प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्मः
उद्भव, स्वरूप एवं पतन

के. टी. एस. सराओ

First edition: Delhi University, Delhi (2004)
Second revised edition: CBBEF, Taipei (2005)

Printed for free distribution by:
The Corporate Body of
The Buddha Educational Foundation
11F, 55 Hang Chow South Road Sec 1
Taipei, Taiwan, R.o.C.

पुस्तक के बारे में

इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म के कई महत्त्वपूर्ण विषयों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। पिछले कुछ वर्षों के दौरान बुद्ध की तिथि को लेकर हुए विवाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए लेखक ने इस पुस्तक में बुद्ध की तिथि की गणना करने की कोषिष की है। बौद्ध धर्म के उद्भव के कारणों, विषेषकर लौह तकनीक की भूमिका को लेकर हुए विवाद, की भी परीक्षा की गई है। इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त एवं महिलाओं के प्रति उसके रुख का भी विवेचन किया गया है। प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म के सामाजिक दर्षन तथा हिन्दु समाज की श्रेणीबद्धता के प्रति उसके विचारों पर भी टिपण्णी की गई है। अंत में, बौद्ध धर्म के भारत में हुए पतन के कारणों की समस्या का भी समाधान ढूंढने की कोषिष की है।

लेखक के बारे में

के.टी.एस. सराओ दिल्ली विष्वविद्यालय के *बौद्ध* अध्ययन विमाग में प्रोफैसर हैं। उन्होंने बौद्ध धर्म पर आठ पुस्तकें तथा 50 से अधिक षोधपत्र लिखे हैं। उन्होंने दिल्ली व केंब्रिज विष्वविद्यालय से पी.एच.डी. की उपाधियाँ प्राप्त की हुई हैं। प्रोफैसर सराओ यूरोप, उत्तरी अमेरिका, तथा पूर्वी एषिया के कई विष्वविद्यालयों में पढ़ा चुके हैं। आजकल वह ताइवान के फागुषान विष्वविद्यालयों में बौद्ध धर्म के विज़िटिंग प्रोफैसर के रूप में काम कर रहे हैं।

भूमिका

प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्मः उद्भव, स्वरूप एवं पतन नामक यह पुस्तक मैंने 2002 की गर्मी की छुट्टियों में तैयार की थी। वास्तव में, इस पुस्तक के प्रथम पाँच अध्याय मुख्य तौर पर मेरी अंग्रेज़ी की पुस्तक *The Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism* पर आधारित हैं। क्योंकि इस पुस्तक को प्रारम्भिक तौर पर न केवल अंग्रेज़ी में लिखा गया था बल्कि इसमें प्रयोग किये गये लगभग सभी के सभी स्रोत भी अंग्रेज़ी अथवा रोमन में ही अपलब्ध हैं, इसलिये ग्रंथ–सूची व पादटिप्पणियों को उनकी मूल भाषा या लिपि में ही दिया गया है। उसी प्रकार, संक्षेपण–सूची को भी रोमन में ही दिया गया है। इस पुस्तक का पहला संस्करण 2004 में ***दिल्ली विश्वविद्यालय*** के हिन्दी निदेषालय द्वारा छापा गया था। लेकिन उन्होंने छापने में अनेकों प्रकार की गलतियाँ करदी थीं, इसीलिये मुझे इस द्वितीय संस्करण को छपवाने पर विवष होना पड़ा।

मेरे अनेक मित्रों व विद्यार्थियों ने न केवल मुझे इस पुस्तक को लिखने के लिये प्रेरित किया अपितु इसे लिखने में मेरी सहायता भी की। डॉ॰ राजेष रंजन (धर्म अध्ययन विभाग, पंजाबी विष्वविद्यालय, पटियाला) ने प्रथम व छठे, डॉ॰ अनीता षर्मा (पूर्व एषियाई अध्ययन विभाग, दिल्ली विष्वविद्यालय) ने द्वितीय तथा डा॰ बालमीकि प्रसाद (बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विष्वविद्यालय) ने तृतीय अध्याय के अनुवाद का प्रथम पाण्डुलेख तैयार किया। दिल्ली विष्वविद्यालय में मेरे सहयोगी व मित्र डॉ॰ तुलसी राम षर्मा ने इस पुस्तक का प्रूफ़–षोधन करके अनेकों बहुमूल्य सुझाव दिये। मेरे मित्र सुरेंद्र कुमार की अनुवाद करने की निपुणता का भी मैंने बेहद फायदा उठाया। डॉ॰ बैद्यनाथ लाभ (बौद्ध अध्ययन विभाग, जम्मू विष्वविद्यालय) ने भी अनेक त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। मेरे अनेकों विद्यार्थियों, विषेषकर संजय कुमार तिवारी, कुमार सच्चिदानन्द, हरीष बालुजा तथा अनीता सैनी ने इस पुस्तक का प्रूफ़–षोघन करके अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये। मैं इन सबका आभारी हूँ। अन्त में, सुनीता, जरनैल, अनु, नेहा, निधि,

कनिका, मानिक तथा कनिष्क ने भी कई तरह से अपना योगदान देकर मुझे यह कार्य सम्पन्न करने के योग्य बनाए रखा।

के॰ टी॰ एस॰ सराओ 10 जनवरी 2005

1

बौद्ध कालानुक्रम की समस्याएँ
(PROBLEMS OF BUDDHIST CHRONOLOGY)

बुद्ध की तिथि (Date of the Buddha)

कालानुक्रम की समस्या प्राचीन भारतीय इतिहास में सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक है। उपलब्ध स्रोत सिकन्दर के अभियान से पूर्व की सुनिश्चित कालानुक्रम–संबंधी जानकारी के लिए अपर्याप्त हैं। यद्यपि सामान्य मान्यता है कि बुद्ध 80 वर्ष जीवित रहकर परिनिर्वृत्त हुए,[1] पर ठीक–ठीक कब से कब तक, यह बिना आलोचना को बुलावा दिए इंगित करना कठिन है। समय–समय पर परम्परागत बौद्ध कालानुक्रम में स्वाभाविक विरोधाभासों *(*innate inconsistencies*) **की*** बात कही गई है।[2] यद्यपि अब अधिकतर

---

[1] ***लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि*** "80" ***को सही अंक माना जाए। मनुष्यों की अंकों को पूर्ण (***round off***) करने की आदत को पूरी तरह से नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता।***

[2] Ē. Lamotte, *History of Indian Buddhism: From the Origins to the Śaka Era*, tr.Sara Webb-Boin, Louvain-la-Neuve: Insitut Orientaliste, 1988:13-14 (originally published as *Histoire du bouddhisme indien: Des origenes à l'ére śaka, Louvain: Bibliothêque du Muséon,* 1959:14-15); T.W. Rhys Davids, "The Early History of the Buddhists," E.J. Rapson (ed), *The Cambridge History of India*, vol. 1, Cambridge, 1922: 171-197; H. Kern, *Manual of Indian Buddhism*, Strassburg: Grundriß der indo-arischen Philologie und Altertumskunde, III, Band 8 Heft,1896; G.C. Mendis,"The Chronology of the Early Pāli Chronicle of Ceylon," *University of Ceylon Review*, 5, No.1, 1947: 39-54; E.J. Thomas, "Theravādin and Sarvāstivādin dates of the Nirvāṇa," in D.R. Bhandarkar *et al*

विद्वान मानते हैं कि बुद्ध की मृत्यु 400 ई॰पू॰ के आस–पास अथवा उससे अधिक पहले नहीं हुई,[3] तथापि बुद्ध के काल से सम्बद्ध किसी भी शोध का अनुसरण करने के लिए सम्बद्ध स्रोतों का एक नया और आलोचनात्मक अध्ययन अत्यन्त आवष्यक है।

बुद्ध की तिथि की गणना के लिए कई विधियों का प्रयोग किया गया है। परन्तु इनमें से अधिकतर विष्वसनीय नहीं हैं, विशेषकर वे जो या तो बहुत बाद की सामग्री पर आश्रित हैं या किसी न किसी रूप में संदिग्ध प्रकृति (dubious nature) की हैं। यहाँ पर हम बुद्ध की तिथि से सम्बद्ध केवल सबसे महत्त्वपूर्ण परिकल्पनाओं (most important hypotheses) पर विचार करेंगे। लेकिन, वास्तविक विषय पर आने से पूर्व, यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि चंद्रगुप्त तथा अषोक दोनों के सिंहासनारोहण की तिथियाँ बुद्ध की तिथि से अविमोचनीय तरीके से जुड़ीं हैं। यह न्यूनाधिक निश्चित है कि चंद्रगुप्त ने लगभग 317 ई॰पू॰ में शासन करना आरम्भ किया, यद्यपि कुछ विद्वान इससे कुछ पूर्व की तिथि भी मानते हैं।[4] "ऐण्डामौस (Endamos) द्वारा पुरु (Poros) की हत्या और 317 ई॰पू॰ में भारत से उसका प्रस्थान पर्याप्त संकेत हैं। चंद्रगुप्त की अगुआई में

(ed), *B.C. Law Volume,* vol. 2, Poona, 1946: 18-22; H. Bechert, "The Date of the Buddha Reconsidered," *Indologica Taurinensia*, 10, 1982: 29-36; "A Remark on the Problem of the Date of Mahāvīra," *Indologica Taurinensia*, 11, 1983: 287-290; (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha*, 2 vols, 3 Folge, nos. 189, 194, Göttingen: Abhandlungen der Akademie der Wissenschaften in Göttingen, 1991, 1992; (ed), *When Did the Buddha Live?*, Bibliotheca Indo-Buddhica Series No. 165, Delhi, Sri Satguru Publications: 1995.

[3] ***विस्तृत जानकारी के लिए देखें,*** H. Bechert (ed), *Op*. Cit., 1991, 1992, 1995.

[4] ***रोमिला थापर ने बड़े अच्छे ढंग से चंद्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि की गणना वर्ष 321 ई॰पू॰ की है। देखें***, R. Thapar, *Aśoka and the Decline of the Mauryas,* Bombay: Oxford University Press, 1960:12-16.

भड़का भारतीय विद्रोह इस समय से पूर्व संभव प्रतीत नहीं होता।"[5] इस प्रकार "317 ई॰पू॰ से पहले चंद्रगुप्त के अधिकार–क्षेत्र की स्थापना होनी असंभव है, हालाँकि नन्दों को उखाड़ फेंकने तथा उनके मगध साम्राज्य को प्राप्त करने का उसका विध्वंसक प्रयास 325 ई॰पू॰ तक जा सकता है।"[6] अषोक के 13वें शिलालेख में उल्लिखित विभिन्न यूनानी राजाओं के नामों के आधार पर अषोक की राज्यप्राप्ति (accession) की तिथि लगभग 268 ई॰पू॰ रखी जा सकती है और अभिषेक (consecration) की तिथि, जो उसके शासन के चौथे वर्ष में (अर्थात् 3 वर्ष बाद) हुआ, लगभग 265 ई॰पू॰।

बुद्ध की तिथि के अध्ययन के लिए प्रयुक्त स्रोत मोटे तौर पर दो भागों में बाँटे जा सकते हैंः वे स्रोत जो तथाकथित दीर्घकालानुक्रम (Long Chronology) का समर्थन करते हैं या वे जो लघुकालानुक्रम (Short Chronology) का। ये कालानुक्रम मुख्य रूप से क्रमशः दक्षिणी और उत्तरी बौद्ध किंवदंतियों (Northern and Southern Buddhist legends) पर आधारित हैं। श्रीलंकाई परम्परा में शामिल दक्षिणी किंवदंतियाँ अषोक के अभिषेक को बुद्ध के परिनिर्वाण से 218 वर्ष बाद मानती हैं।[7] इसकी तुलना में, उत्तरी बौद्ध किंवदंतियाँ अषोक के अभिषेक को बुद्ध की मृत्यु से 100 या 110 वर्ष बाद मानती हैं। उन तर्कों का सर्वोच्च सर्वेक्षण, जिन्होंने विद्वानों को यह विश्वास करने पर प्रेरित किया कि बुद्ध की तिथि की गणना दीर्घकालानुक्रम पर आधारित होनी चाहिए, आंद्रे बॉरो (André Bareau) के 1953 में छपे लेख में पाया जाता है।[8] दक्षिणी बौद्धों ने आरम्भ में बुद्ध की मृत्यु की तिथि को वर्ष 544–543 ई॰पू॰ मान लिया

[5] N.K. Bhattasali, "Mauryan Chronology and Connected Problems," *Journal of the Royal Asiatic Society*, Part II, 1932: 283.

[6] O. Stein, "The Coronation of Candragupta Maurya," *Archiv Orientalni*, vol. 1,1932: 368.

[7] *दीपवंस*.VI.1, 19-20; *महावंस*.V.21; *समंतपासादिका*.I.41, 1.25.

[8] A. Bareau, "La date du nirvāṇa," *Journal Asiatique*, Vol. 241, 1953: 27-62.

था। लेकिन विल्हैल्म गायगर *(W. Geiger)* और अन्य विद्वानों ने इस गणना में सुधार कर दिया था क्योंकि श्रीलंका के राजाओं के कालानुक्रम में 60 अतिरिक्त वर्ष जुड़े हुए थे।[9] दीर्घकालानुक्रम का बुनियादी संख्या 218 है। इस संबंध में दीपवंस में कहा गया हैः

> सम्बुद्ध के परिनिर्वाण प्राप्त करने के 218 वर्षों बाद पियदस्सन *(अषोक)* का अभिषेक हुआ था।[10]

और महावंस में कहा गया हैः

> विजेता *(बुद्ध)* के निर्वाण के बाद और उसके *(अषोक के)* अभिषेक से पहले 218 वर्ष थे, यह जानना चाहिए।[11]

कहा जाता है कि जिस उपद्रव के कारण तृतीय संगीति का आयोजन हुआ था वह पाटलिपुत्र के अषोकाराम में बुद्ध की मृत्यु के 236 वर्ष बाद हुआ था[12] और यह संगीति अषोक के 17वें वर्ष में समाप्त हुई थी।[13] इससे भी महापरिनिर्वाण अषोक के अभिषेक से 218 वर्ष पूर्व पड़ता है।[14] चूँकि, अषोक के 13वें शिलालेख में उल्लेखित विभिन्न यूनानी राजाओं की तिथियों के आधार पर अषोक की राज्यप्राप्ति *(accession)* की तिथि की गणना लगभग 268 ई॰पू॰

---

[9] ***विवरण के लिए देखें,*** W. Geiger, "Introduction" to *The Mahāvaṃsa or the Great Chronicle of Ceylon*, London, PTS: 1908, 1912: xxv-xxvi; G.C. Mendis 1947: 39-54.

[10] द्वे सतानि च वस्सानि अट्ठारस वस्सानि च,
सम्बुद्धे परिनिब्बुत्ते अभिसित्तो पियदस्सनो। *(दीपवंस.*VI.1.*)*

[11] जिनानिब्बाणतो पच्छा पुरा तस्सेभिसेकतो,
सट्ठारसं वस्ससतद्वं इयं विजानियं। *(महावंस.*V.21.)

[12] *दीपवंस.*VII.37, 44ff; *महावंस.*V.21.

[13] *महावंस.*V.280.

[14] *दीपवंस.*VI.1; *महावंस.*V.21.

के आसपास बनती *है*, बुद्ध की मृत्यु के वर्ष की गणना निम्न प्रकार से की जा सकती है:

अषोक ने राजगद्दी पर अधिकार किया	= लगभग 268 ई॰पू॰
अषोक का राज्याभिषेक हुआ *(*268-3*)*	= लगभग 265 ई॰पू॰.........1
अषोक का राज्याभिषेक हुआ	= 218 वर्ष बुद्ध के बाद....2
बुद्ध की मृत्यु हुई *(*218+265*)*	= लगभग 483 ई॰पू॰[15]

दीर्घकालानुक्रम के समर्थन में यह अंकित किया जाता है कि तथाकथित खोतान का इतिहास *(History of Khotan)* में धर्माषोक के सिंहासनारोहण की तिथि 234 ई॰पू॰ दी गई है, जो दीर्घकालानुक्रम के 218 ई॰पू॰ से अधिक भिन्न नहीं है।[16] ऐसा भी बताया जाता है कि इस कालानुक्रम का इसके समकालीन राजनैतिक इतिहास की घटनाएँ भी समर्थन करती हैं। अजातषत्रु बुद्ध की मृत्यु के 24 वर्ष बाद तक गद्दी पर विराजमान था,[17] और तब, ऐसा कहा जाता है, नन्द राजवंश की स्थापना और अषोक के राज्याभिषेक के बीच 78 वर्षों का समय बीता,[18] हालाँकि पौराणिक स्रोत 78 वर्षों से कुछ अधिक समय अंकित करते हैं। दीर्घकालानुक्रम के समर्थक यह भी अंकित करते हैं कि विभिन्न स्रोतों में मगध राजाओं की सूची यद्यपि कई विषयों पर सामंजस्यहीन प्रतीत होती

---

[15] ***लेकिन यदि 3 वर्षों को नज़र अंदाज़ कर दिया जाए तो बुद्ध की मृत्यु की तिथि लगभग 486 (*218+268) *ई॰पू॰ में पड़ती है। यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि बिन्दुसार के राज्यकाल की अवधि श्रीलंकाई परम्परा में 28 वर्ष दी गई है जब कि* पुराणों *में यही अवधि 25 वर्ष दी गई है। ऐसा लगता है कि श्रीलंकाई परम्परा में अशोक के राज्याभिषेक से पहले के 3 वर्षों को बिन्दुसार के राज्यकाल में शामिल कर दिया गया, लेकिन तदनुसार अशोक के राज्यकाल की कुल अवधि को नहीं बदला गया।***

[16] A. Bareau, *Op. Cit,* 1953: 51.

[17] *दीपवंस.*III.60.

[18] *महावंस.*V.15-22.

है, तब भी अजातषत्रु और चंद्रगुप्त के बीच अनेकों राजाओं के राज्यकाल के बारे में यह स्रोत एकमत हैं। इन राजाओं में से एक उदायिन था जिसने अपनी राजधानी राजगृह से बदलकर पाटलिपुत्र में स्थापित की थी। ऐसा भी कहा जाता है कि यदि हम लघुकालानुक्रम को मान लें तब नन्द वंश की स्थापना अजातशत्रु के शासनकाल के तुरंत बाद हुई प्रतीत होती है। लेकिन दूसरी ओर, यह भी अंकित किया जा सकता है कि पुराण कुछ स्थानों पर भ्रांतिजनक सूचना देते हैं। उदाहरणार्थ, प्रद्योत जिसने अवंति से शासन किया, को मगध का षासक बतलाया गया है। लेकिन अब अधिकतर इतिहासकार इस तथ्य से सहमत हैं कि अवंति वंशावली किसी न किसी प्रकार मगध राजवंशों में मिला दी गई थी।[19]

विल्हैल्म गायगर द्वारा दी गई कालानुक्रम–संगणना की पुष्टि के लिए तर्कों में से एक प्रमुख तर्क विक्रमसिंघे द्वारा प्रस्तावित यह परिकल्पना थी कि एक कालानुक्रम, जिसका आरम्भ 483 ई०पू० में बुद्ध की मृत्यु के रूप में मानकर हुआ, श्रीलंका में 11वीं शताब्दी के आरम्भ तक प्रचलित था; और कि 544 ई०पू० का बुद्धवर्ष सामान्यतया बाद के समय में स्वीकार किया गया था।[20] तथापि, विक्रमसिंघे की परिकल्पना, जो भ्रांतिपूर्ण पूर्वानुमानों पर आधारित थी, बार–बार खण्डित की जा चुकी है।[21] यह ध्यान देने योग्य बात है कि हालाँकि संशोधित दीर्घकालानुक्रम (Corrected Long Chronology) राजा वट्टगामणी के बाद पूर्णतः विश्वास करने योग्य है, लेकिन उससे

[19] *Cambridge History of India*, vol. 1, Cambridge: Cambridge University Press, 1922:277.

[20] D.M.Z. Wickremasinghe, "Kiribat-Vehera Pillar Inscription," *Epigraphia Zeylanica*, I, 1904-12: 153-161.

[21] E. Hultzsch, "Contributions to Singhalese Chronology," *JRAS*,1913: 517-531; G.C. Mendis, "The Chronology of the Early Pāli Chronicle of Ceylon," *University of Ceylon Review*, 5, No.1 1947: 39-54; S. Paranavitana, "New Light on the Buddhist Era in Ceylon and Early Sinhalese Chronology," *University of Ceylon Review*, 18,1960: 129-155.

पूर्व काल की जानकारी मौखिक परम्परा से ली गई थी और कालानुक्रम–संबंधी संगणनाएँ उन प्राचीनतम श्रीलंकाई इतिहासलेखकों *(historiographers)* द्वारा बनाए गए कामचलाऊ अनुमानों पर आधारित थीं, जो आज के उपलब्ध स्रोत को आधार प्रदान करते हैं। इस प्रकार संशोधित दीर्घकालानुक्रम के पक्ष में कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[22] इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि प्राचीन दक्षिणी परम्परा के किसी कागजात में 483 ई॰पू॰ या 486 ई॰पू. में शुरू होने वाले कालानुक्रम का कोई संकेत नहीं है। ये संवत् बाद के पाण्डित्य का आविष्कार प्रतीत होते हैं। विन्सेंट स्मिथ ने 160 ई॰पू॰ से पहले के श्रीलंकाई कालानुक्रम को न केवल पूर्णतः अस्वीकृत और संदेहास्पद पाया बल्कि मुख्य प्रतिज्ञप्तियों में भी निश्चित रूप से उसे गलत ठहराया।[23] राजा विजय से देवानम्पियतिस्स तक के काल की परम्परा इस साधारण आधार पर संदेहास्पद प्रतीत होती है कि विजय का श्रीलंका में आगमन तथा बुद्ध की मृत्यु का दिन एक ही है![24] इसके अतिरिक्त, शासनकालों की अवधि को गोल–मटोल संख्याओं में ऐसे दिया गया है कि वे न केवल किसी निश्चित योजना का अंष प्रतीत होते हैं बल्कि, दो राजाओं, पण्डुकाभय और मुटसिव, की अवधि प्रत्यक्ष रूप से असंभव प्रतीत होती है।[25] नदनुसार, पण्डुकाभय 107 वर्ष की आयु तक जिया जबकि मुटसिव ने बुढ़ापे में राजा बनने के बावजूद 60 वर्ष शासन किया।[26] ऐसा प्रतीत होता है कि "परम्परा में कुछ नामों और घटनाओं को, वास्तव में, क़ायम रखा जा सकता हैं, परंतु विजय और

---

[22]H. Bechert, "The Date of the Buddha Reconsidered," *Indologica Taurinensia*, 10, 1982: 34f.

[23]V.A. Smith, *Aśoka: The Buddhist Emperor of India*, Oxford: Clarendon Press, 1901: 57.

[24]*महावंस*.VI.47. ***दीपवंस***.IX.21-22 ***में ऐसा कहा गया है कि उस का आगमन बुद्ध की मृत्यु के ही दिन हुआ।***

[25]W. Geiger , *Op. Cit*, 1912: 12.

[26]***वही।***

बुद्ध को समकालीन बनाने के लिए अंतिम शासनकालों को बढ़ा दिया गया।"[27] यह ध्यान देने योग्य बात है कि दक्षिणी परम्परा के लेखकों द्वारा उसे अपने मस्तिष्क में कुछ निष्चित मुद्दों को मद्देनज़र रखकर बनाया और पूरा किया हुआ प्रतीत होता है। संख्या "218" आरम्भिक प्रक्रिया का अंश प्रतीत नहीं होती, दूसरे षब्दों में, यह उस मूलग्रंथ, जिस पर *दीपवंस* और महावंस आधारित हैं, का हिस्सा प्रतीत नहीं होती। दीपवंस में जहाँ–तहाँ अन्तराल हैं जिनकी महावंस में विभिन्न राजाओं के शासनकालों को घटा–बढ़ाकर पूर्ति कर दी गई है। उदाहरण के लिए, दीपवंस में बुद्ध को यह कहते हुए उद्धृत किया गया हैः

> "परिनिब्बान के चौथे मास में प्रथम संगीति आयोजित होगी..
> . एक सौ अठारह वर्षों बाद तृतीय संगीति आयोजित होगी...
> *(*तब*)*... एक शासक होगा... असोकधम्म के रूप में ज्ञात।"[28]

हर्मन्न ओल्डनबर्ग ने इस संबंध में कहा है कि यहाँ तृतीय संगीति में द्वितीय संगीति को पूर्वकल्पित किया गया है और उन्होंने सुझाव दिया कि द्वितीय संगीति के कुछ तथ्य निश्चित रूप से छँट गए होंगे।[29] उनके अनुसार, 25वें पद्य की प्रथम और द्वितीय पंक्तियाँ मूल रूप से किन्हीं दूसरे पद्यों से जुड़ी थीं। उनके उनुसार, यहाँ द्वितीय संगीति के बारे में कथन और बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्षों बाद उसके घटने वाले विवरण छँट गए हैं। इस प्रकार ओल्डनबर्ग कहते

---

[27] ***वही।***

[28]परिनिब्बुते चतुमासे हेस्सति पठमसंघहो।
ततो परं वस्ससते वस्सान्'अट्ठारसानि च
ततियो संधहो होतो पवत्तत्थाय सासनं।
इमस्मिं जम्बुदीपम्हि भविस्सति महीपति
महापुxञो तेजवंतो असोकधम्मो सति विस्सुतो।
*(दीपवंस.*I.24-26.*)*

[29]H. Oldenberg, *The Buddha*, first edition: 1879, reprint, Delhi, 1971: 119 fn 1.

हैं कि 118 वर्षों बाद तृतीय संगीति संपन्न हुई। द्वितीय संगीति की किंवदन्ति के संबंध में यह भविष्यवाणी[30] कि "118 वर्षों के बाद एक भिक्षु... मोग्गलिपुत्त *(तिस्स)*... उस समय पाटलिपुत्त का शासक असोक था..."[31] अंकित करती है कि द्वितीय संगीति तृतीय से 118 वर्ष पूर्व आयोजित हुई, हालाँकि इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि बुद्ध की मृत्यु तृतीय संगीति से 118 वर्ष पूर्व हुई।

एक महत्त्वपूर्ण कारण जिसने संभवतः दीर्घकालानुक्रम की लोकप्रियता को बढ़ाया, वह यह तथ्य था कि लघुकालानुक्रम की संदेहास्पद संख्या 100 की बजाए, दीर्घकालानुक्रम में सटीक संख्या 218 है। लेकिन, इसका तात्पर्य निश्चितरूप से यह नहीं होता कि चूँकि संख्या 218 गोल–मटोल प्रतीत नहीं होती इसीलिए यह एक सटीक संख्या है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो दीर्घकालानुक्रम की एक दुर्बलता यह भी है कि वह प्राचीनतम स्रोत जिसमें यह पाया गया,[32] लघुकालानुक्रम की तुलना में दो या तीन शताब्दियों बाद रचा गया था। यह निश्चित ही मानना पड़ेगा कि किसी घटना के घटित होने और उसके लिखे जाने के समय में जितना अधिक अंतराल रहेगा उसकी निष्पक्षता में विषयनिष्ठ त्रुटि *(*objective error*)* की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

लघुकालानुक्रम भारतीय स्रोतों *(विनय पिटक)* तथा उनके चीनी और तिब्बती अनुवादों के साक्ष्य पर आधारित है। विनय पिटक के सभी पाठसंशोधनों *(*recensions*)*[33] में यह बताया गया है कि बुद्ध की मृत्यु अषोक के अभिषेक से 100 अथवा 110 वर्ष पहले हुई। दूसरे शब्दों में, महापरिनिर्वाण की तिथि लगभग 368 या 378 ई॰पू॰ होनी चाहिए। उत्तरी परम्परा तृतीय संगीति का उल्लेख इसलिए नहीं करती क्योंकि इसका आयोजन संघभेद के बाद हुआ और इसलिए दूसरे संप्रदाय इससे अनभिज्ञ थे। वे विद्वान जो उत्तरी परम्परा को

---

[30] *दीपवंस*.V.16-29.

[31] ***वही***.55-59.

[32] *दीपवंस* ***(4–5वीं शताब्दी).***

[33] ***जो एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए हैं।***

स्वीकार नहीं करते, कहते हैं कि धर्माषोक के अभिषेक और वैशाली की संगीति का एक ही वर्ष में होना अपने आप में एक विरोधाभास (contradiction) है।[34] लेकिन जो विद्वान इसका अनुसरण करते हैं, वे कहते हैं कि इस अवसर के महत्त्व को देखते हुए इस प्रकार की संभावना को अनदेखा नहीं किया जा सकता।[35] लेकिन संख्या 100 प्रायः एक बड़ी संख्या के रूप में प्रयोग की जाती है, जिसका आमतौर पर सुनिश्चित महत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में, इसका प्रयोग अधिकतर एक गोल–मटोल संख्या के रूप में किया जाता है।[36] यद्यपि 218 एक गोल–मटोल संख्या नहीं है, तथापि इसे कई अन्य आधारों पर स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसे मूलतः एक छोटी संख्या से धीरे–धीरेष्षायद इसलिए बढ़ा–चढ़ा दिया गया था कि विभिन्न व्यक्तित्वों और विधाओं को अस्तित्व प्रदान किया जा सके। अषोक का 13वाँ शिलालेख ताम्रपर्णी (श्रीलंका) को एक ऐसे देश के रूप में अंकित करता है जहाँ उसने धर्मप्रचारक भेजे थे। चूँकि यह शिलालेख अषोक के शासनकाल के 13वें वर्ष से संबंधित है, अतः दक्षिणी परम्परा द्वारा धर्म–परिवर्तन को 18वें वर्ष में रखा जाना, एक गलती प्रतीत होती है। वास्तव में, श्रीलंकाई इतिहासलेखन राजनीति से प्रेरित लगता है "ताकि सिंघल लोगों के इस दावे को वैधता प्रदान की जा सके कि वे बुद्ध के चुनिन्दा लोग हैं... जिसने विद्वानों को इस विश्वास की ओर बहकाया कि यह विश्वसनीय ऐतिहासिक सूचना का प्रतिनिधित्व करता है... (जो वास्तव में), बिना किसी ऐतिहासिक आधार के, एक पूर्णतः मिथकीय रचना है।"[37] इसलिए, दीर्घकालानुक्रम को निश्चित ही प्रारम्भिक लघुकालानुक्रम से श्रीलंकाई इतिहासलेखन की विषेष आवश्यकताओं को पूरा करने के

---

[34] A. Bareau, *Op. Cit*, 1953: 27-29.

[35] H. Bechert, *Op. Cit*, 1982: 35.

[36] ***देखें***, M. Monier-Williams, *Sanskrit-English Dictionary*, s.v. *शत*.

[37] H. Bechert, *Op. Cit*, 1982: 35.

एक प्रयास में विकसित किया होगा। दीर्घकालानुक्रम की समस्याएँ इसलिए और भी बढ़ जाती हैं क्योंकि श्रीलंकाई स्रोत अपने आप में इस मुद्दे पर पूर्णतः एकमत नहीं हैं। वास्तव में, अगर पूरे विषय को निष्पक्षता से देखा जाए तो यह प्रतीत होता है कि संशोधित दीर्घकालानुक्रम के समर्थकों ने एक "संसक्त *(*coherent*)* कालानुक्रमागत पद्धति बनाने में बहुत पेचीदा और बनावटी तर्कों का प्रयोग किया है।"[38]

100 वर्षों का सिद्धांत पूरे बौद्ध जगत में व्यापक है। तिब्बती स्रोत अषोक को बुद्ध की मृत्यु के 100–160 वर्ष बाद ठहराते हैं।[39] तारनाथ कहते हैं कि तिब्बती विनय के अनुसार अषोक की तिथि 110 वर्ष बुद्धोपरान्त होनी चाहिए।[40] इसी प्रकार चीनी त्रिपिटक में अषोक की तिथियाँ 116, 118, 130 और 218 वर्ष बुद्धोपरान्त निर्दिष्ट होती है।[41] अंतिम चर्चित तिथि, प्रतीयमानतः केवल चीनी सुदषन–विभाषा विनय में पाई जाती है, जो स्वयं बुद्धघोष की समन्तपासादिका का अनुवाद है।[42] वसुमित्र के वृत्तांत के अनुसार भी अषोक की तिथि 110 वर्ष बुद्धोपरान्त होनी चाहिए।[43] ह्युनत्सांग *(*Hsüan-tsang/ Xuan Zang*)* के अनुसार, मृत्यु के समय बुद्ध ने कहा था कि "अब से एक सौ साल बाद अषोक राजा होगा।"[44] आगे ह्युनत्सांग पुनः बताते हैं कि राजा अषोक का महेंद्र नामक एक सौतेला भाई था[45] जिसे अषोक मौर्य के संबंधी के रूप में जाना

---

[38] ***वही।***

[39] ***देखिए***, W. Geiger, *Op. Cit*, 1912: lxi.

[40] ***वही।***

[41] ***वही।***

[42] ***वही।***

[43] W. Geiger, *Op. Cit*, 1912: lxi ***में उद्धरित।***

[44] S. Beal, *Si-yu-ki: Buddhist Records of the Western World*, vol. 2, London: Trübner & Co.1906: 90.

[45] ***वही***.91ff.

जाता है। एक अन्य जगह पर उन्होंने अषोक को बिम्बिसार का प्रपौत्र,[46] अर्थात्, अजातषत्रु का पौत्र बताया है। पर, चूँकि अषोक वास्तव में चंद्रगुप्त का पौत्र था, तस्वीर कुछ विरोधाभासी प्रतीत होती है। लेकिन यहाँ पर ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि यहाँ पर संबद्ध राजा कालाषोक था,[47] क्योंकि विवरण कई तरह से अषोक मौर्य के साथ मेल खाता है। फिर भी, एक और जगह ह्युनत्सांग कहते हैं:

> विभिन्न विचारधाराएँ बुद्ध की मृत्यु की तिथि की गणना करती हैं। कुछ का कहना है कि तब से अब तक 1200 वर्ष या अधिक हो चुके हैं। अन्य कहते हैं, 1300 या अधिक। दूसरे कहते हैं, 1500 या अधिक। कई औरों का कहना है कि निर्वाण से अब तब 900 वर्ष बीत चुके हैं लेकिन 1000 वर्ष नहीं हुए।[48]

यहाँ दी गई विभिन्न तिथियाँ 552 ई॰पू॰, 652 ई॰पू॰, 852 ई॰पू॰ तथा 252–352 ई॰पू॰ के बीच की तिथि के अनुकूल हैं। अंतिम तिथि से ह्युनत्सांग का अभिप्राय संभवतः यह था कि बुद्ध की मृत्यु अषोक से 100 वर्ष पूर्व हुई। थेरवादियों, महीषासकों, धर्मगुप्तकों और हैमवतों के विनयों में महापरिनिर्वाण से 100 वर्ष बाद तथा सर्वास्तिवादियों और मूलसर्वास्तिवादियों के विनयों में 110 वर्ष बाद हुई वैषाली की संगीति की तिथि का स्रोत एक ही था और "इसीलिए दी गई इन दो संख्याओं की यथार्थता को लेकर हम निश्चित रूप से संदेह व्यक्त कर सकते हैं।"[49] लेकिन चूँकि मनुष्यों में प्रायः हमेशा बढ़ा–चढ़ाकर कहने और गोल–मटोल संख्याएँ देने

---

[46] *वही.*85.

[47] *जैसा कि हर्मन्न ओल्डनबर्ग (*H. Oldenberg*) का मत है। इस संबंध में देखें*, Vin.I.SBE.*Introduction*.xxiii.fn.

[48] S. Beal, *Op. Cit*. II.1906: 33.

[49] A. Bareau, "The Problem Posed by the Date of the Buddha's Parinirvāṇa," H. Bechert, *Op. Cit*, 1995: 212.

की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से पाई जाती है, संख्या 100 एक त्रुटिपूर्ण और गोल–मटोल संख्या के रूप में ही व्याख्यायित हो सकती है, जो एक लंबा समयान्तराल प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग की गई है। “जिन वृत्तान्तों में वैषाली की संगीति को परिनिर्वाण के 100 या 110 वर्ष बाद रखा गया है, उनके रचनाकारों ने सही में विश्वसनीयता तथा ईमानदारी से परिरक्षित दस्तावेज़ों और परम्पराओं का प्रयोग नहीं किया, जिनके सूक्ष्म परीक्षण और तर्कशील चिंतन से ऐसी तिथि निश्चित की जा सकती। उन्हें बुद्ध की मृत्यु तथा द्वितीय संगीति के बीच बीते समय का कोई स्पष्ट अनुमान ही नहीं था बल्कि वे यह भी नहीं जानते थे कि उनके समय से परवर्ती घटना को कितने दशकों ने पृथक् किया था।”[50] संभवतः वैशाली की संगीति का आयोजन बुद्ध के परिनिर्वाण से 62 वर्ष बाद हुआ।[51] इससे यह तथ्य भी विश्वसनीय हो जाता है कि साणवासी, जो द्वितीय संगीति के प्रतिष्ठित व्यक्तित्वों में से एक था, आनन्द का व्यक्तिगत शिष्य था। बौद्ध ग्रंथ निश्चित रूप से संख्याओं को अतिरंजित करते प्रतीत होते हैं, अन्य सभी भारतीय धर्मों में भी धार्मिक नेताओं के लिए हमेशा प्राचीनता का दावा करने की एक प्रवृत्ति रही है। लेकिन इस के विपरीत तर्क के रूप में यह भी कहा जा सकता है कि मथुरा के पुराकथाकार भिक्षुओं ने अषोक के समकालीन उपगुप्त को बुद्ध के काल के आसपास लाने के लिए कम कालावधि का जाल बुना।

ऐसा प्रतीत होता है कि विल्हैल्म गायगर द्वारा बौद्ध कालानुक्रम के किए गए विवेचन ने लघुकालानुक्रम की तुलना में दीर्घकालानुक्रम को स्वीकृति दिलाने में प्रभावशाली भूमिका निभाई।[52]

---

[50] ***वही***.212-13.

[51] ***देखें***, K.T.S. Sarao, *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, 2nd revised edition, Delhi: R&R Publishers, 1999: Appendix I.

[52] W. Geiger, *Op. Cit*,1912.

आंद्रे बॉरो[53] और पी॰एच॰एल॰ ऐग्गर्मौन्ट[54] जैसे अन्य विद्वानों ने भी ऐसा ही किया और दीर्घकालानुक्रम बुद्ध की तिथि के लिए आधार बन गया। लेकिन दीर्घकालानुक्रम के लिए सबसे बड़ा समर्थन फे–छंग–फाँग द्वारा वर्ष 597 में लिखे ली–थाए–सान–पाओ–छी *(Li-tai san-pao chi)* नामक ग्रंथ में अन्तर्विष्ट अंकित अभिलेख *(Dotted Record)* के रूप में प्राप्त हुआ। इस ग्रंथ में कहा गया है कि संघभद्र के अनुसारः

> "एक परम्परा है जो शिक्षक द्वारा शिक्षक को पीढ़ी–दर–पीढ़ी सौंपी गई थी, जैसे कि, बुद्ध के निधन के बाद उपालि ने विनय को संगृहीत किया और उसी साल 7वें चंद्र की 15वीं तारीख़ को पवारणा मनाया। उसी मौके पर विनय को फूल और अगरबत्ती भेंट करने के बाद उसने (एक दस्तावेज़) पर एक बिन्दु लगाया तथा उसे विनय ग्रंथ के पास रख दिया। उसके बाद (इस प्रथा को) हर साल दुहराया गया। जब उपालि इस दुनिया से विदा होनेवाला था तब उसने इसे अपने षिष्य दासक को सौंप दिया... दासक ने सोणक को... सिग्गव को... मोग्गलिपुत्त तिस्स... चन्दवज्जी को। इस प्रकार, उपदेशकों ने अंत में इसे त्रिपिटक के वर्तमान स्वामी को सौंपा। यह स्वामी विनय पिटक को कैंटन ले आया। उसने जब... अपनी (मातृभूमि) लौटने का निश्चय किया... वह विनय पिटक (उसने) शिष्य संघभद्र को सौंप दिया...। पवारणा मनाने और युंग–मिंग (489 ई.) के सातवें वर्ष में सातवें चंद्र की (पंद्रहवीं तिथि

[53]A. Bareau, *Op. Cit.*, 1953. ***लेकिन बाद में आंद्रे बॉरो ने अपने विचारों को संशोधित कर लिया था। 1995 में प्रकाशित अपने एक पर्चे में उन्होंने लिखा हैः "यदि बुद्ध के निर्वाण को 400 ई॰पू॰ के आसपास रखा जाए तो हम शायद उस ऐतिहासिक सच्चाई से अधिक दूर नहीं होंगे, जो दुर्भाग्यवश और अधिक सुनिश्चितता से उपलब्ध नहीं है।"*** (A. Bareau, "The Problem Posed by the Date of the Buddha's Parinirvāṇa," Heinz Bechert (ed), *Op. Cit.*, 1995: 211-219).

[54]P.H.L. Eggermont, *The Chronology of the Reign of Asoka Moriya*, Leiden: E.J. Brill. 1956.

> को) आधी रात को विनय को फूल और अगरबत्तियाँ भेंट करने के पश्चात् उसने एक पारम्परिक कार्य के तौर पर (दस्तावेज़ पर) एक बिन्दु लगा दिया। उस वर्ष कुल 975 बिन्दु हुए। एक बिन्दु एक वर्ष की तरह गिना जाता है।"[55]

उपरोक्त के आधार पर, इस प्रकार, हम पाते हैं:

बुद्ध की मृत्यु	= 489 ई॰–975 = 486 ई॰पू॰
अषोक का अभिषेक	= 486 ई॰पू॰–218 = 268 ई॰पू॰

इस प्रकार, अंकित अभिलेख के अनुसार, बुद्ध का महापरिनिर्वाण वर्ष 486 ई॰पू॰ में हुआ।[56] किंतु पाछाओ ने कहा था कि चूँकि अनजाने में इस अभिलेख में तीन अतिरिक्त बिन्दु लगे हुए हैं, वर्ष 489 ई॰ में सही बिन्दुओं की संख्या 975 की बजाए 972 होनी चाहिए थी। इस प्रकार, महापरिनिर्वाण की वास्तविक तिथि 489 ***ई॰-*** 972= 483 ई॰पू॰ होनी चाहिए।[57]

लेकिन चीनी स्रोतों से ज्ञात यह परम्परा स्पष्टतः एक स्वतंत्र मूल की नहीं है।[58] इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि बिन्दु विनय को गौरव प्रदान करने की एक परवर्ती खोज है। इसके अतिरिक्त, जिस तरीके से इसे संरक्षित किया गया, एक पीढ़ी से

---

[55] ***अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए देखें***, W. Pachow, "A Study of the Dotted Record," *JAOS*, vol. 83 (3): 342-45.

[56] ***विस्तृत वर्णन के लिए देखें***, W. Pachow , *Op. Cit.*344-45.

[57] ***वही,*** 345.

[58] ***आंद्रे बॉरो का कहना है कि इस परम्परा का उद्भव श्री लंका में हुआ था और इसलिए इसका विश्वसनीयता से प्रयोग नहीं किया जा सकता (***A. Bareau, *Op. Cit.*1953: 53***). ताकाकुसु भी पहले इसी तथ्य की बात कर चुके हैं (***J. Takakusu, "Pāli Elements in Chinese Buddhism: A Translation of Buddhaghosa's *Samantapāsādikā*, a Commentary on the *Vinaya*, Found in the Chinese *Tripiṭaka*," JRAS, 1896: 436ff***).***

दूसरी पीढ़ी तक सौंपा गया और एक देश से दूसरे देश तक ले जाया गया, निष्चय ही वह रहस्यमय और अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इसकी विश्वसनीयता पर संदेह व्यक्त करने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई रास्ता नहीं है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्रीलंकाई अभिलेख और समन्तपासादिका, आचार्यों द्वारा विनय के संचरण के सम्बन्ध में उपालि द्वारा आरम्भ की गई परम्परा की बात तो करते हैं, पर उनमें हमें कहीं भी प्रतिवर्ष वर्षावास के बाद किसी दस्तावेज पर बिन्दु लगाने की प्रथा का संकेत नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में, यह विश्वास करना कठिन है कि अंकित अभिलेख की परम्परा उपालि द्वारा शुरू की गई थी जिसे विनयाचार्यों द्वारा सिलसिलेवार षिष्य–दर–षिष्य सौंपा गया।[59] इसके अतिरिक्त, अगर वास्तव में ही अभिलेख की यह परम्परा उपालि द्वारा शुरू की गई थी, तो आचार्यपरम्परा का छठा आचार्य महेन्द्र श्रीलंका आते समय अवष्य इसे अपने साथ लाता और उम्र भर इस पर प्रतिवर्ष बिन्दु लगाता रहता। यदि ऐसा होता तो बिल्कुल बोधिवृक्ष और दंत–अवषेष *(*Tooth Relic*)* की तरह एक पवित्र वस्तु के रूप में इसे श्रीलंका में सुरक्षापूर्वक रखा जाता। लेकिन यह न तो पालि या श्रीलंकाई ग्रंथों के लेखकों को ज्ञात था और न ही फाह्यान की यात्राएँ *(Travels of Fa-hsien)* में इसका कोई उल्लेख किया गया जब 5वीं शताब्दी के आरम्भ में फाह्यान ने श्रीलंका की यात्रा की थी। इस प्रकार यह प्रष्न किया जा सकता है कि क्या वास्तव में ही महेन्द्र अपने साथ कोई ऐसी चीज श्रीलंका लाए थे।[60] यदि ऐसी कोई चीज श्रीलंका में नहीं थी तब यह भी पूछा जा सकता है कि कैसे और कहाँ से यह अभिलेख चीन पहुँचा। वैसे भी, चूँकि प्रथम शताब्दी ई॰पू॰ में दुट्ठगामणी के समय तक विनय का कोई लिखित रूप अस्तित्व में नहीं था, अतः इस परम्परा की विश्वसनीयता को स्वीकारना कठिन

[59]W. Pachow, *Op. Cit*, 1965: 346.

[60]***वही।***

है। इसके अतिरिक्त, "975 वर्षों तक प्रत्येक वर्ष के अंत में एक बिन्दु चिह्नित करने की प्रक्रिया अत्यंत जोखिमभरी है।"[61]

दीर्घकालानुक्रम को जैन कालानुक्रम के साथ ही पुराणों से भी तथाकथित सहमति के आधार पर समर्थन प्राप्त है। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि पुराण अपने आपमें कई असहमतियाँ भी दर्शाते हैं जो, वास्तव में, बुद्ध की कालगणना के लिए भरोसेमंद नहीं हैं। पाली त्रिपिटक स्पष्ट दर्शाता है कि बुद्ध और महावीर समकालीन थे। चूँकि एक तथाकथित स्वतंत्र, हालाँकि बाद की, जैन परम्परा कहती है कि महावीर का निधन चंद्रगुप्त के राज्यारोहण से 155 वर्ष पूर्व हुआ[62] और चूँकि चंद्रगुप्त का राज्यारोहण वर्ष लगभग 317 ई॰पू॰ में रखा जा सकता है, महावीर जैन का निधन वर्ष ***317+155 = लगभग 472 ई॰पू॰ में पड़ता है। लेकिन यहाँ मुख्य समस्या यह है कि वही पालि स्रोत महावीर की मृत्यु*** को बुद्ध की मृत्यु से पूर्व स्थान देता है।[63] लेकिन इस विविधता के लिए दो अलग–अलग उत्तर प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथमतः, बौद्ध स्रोत 'पावा' नामक दो स्थानों को लेकर भ्रमित थे और संभवतः संबंधित तिथि–निर्धारण से भी भ्रमित थे।[64] द्वितीयतः, दक्षिणी बौद्ध दूसरे सम्प्रदायों के बारे में कम जानते हैं और बुद्ध से पूर्व मरनेवाला आजीविक अगुआ मक्खलि गोसाल था।[65] महावीर की मृत्यु की अन्य तिथियाँ, जैसे कि परम्परागत ष्वेताम्बर जैनों की तिथि 527 ई॰पू॰ और दिगम्बरों की तिथि 605 ई॰पू॰, को कभी ज्यादा गंभीरता से नहीं

---

[61] F. Max Müller, "The True Date of Buddha's Death," *The Academy*, 1 March 1884, No. 617: 153.

[62] *परिशिष्टपर्वन्*. VIII.339.

[63] D.III.209f.

[64] "Introduction" to H. Jacobi (ed), *Kalpasūtra of Bhadrabāhu*, Leipzig, 1879: 21.

[65] A.L. Basham, *History and Doctrine of the Ājīvikas*, London: Luzac & Co. Ltd., 1951: 75.

लिया गया क्योंकि यह तिथियाँ स्वयं अविष्वसनीय प्रतीत होती हैं। जैन कालानुक्रम को बौद्ध कालानुक्रम के लिए न प्रयोग करने का एक निर्णायक कारण ***(l'argument le plus décisif)*** यह भी है कि यह कालानुक्रम स्वयं बौद्ध परम्पराओं, विषेषकर श्रीलंकाई परम्परा पर निर्भर करता है।[66] दोनों, महावीर जैन और गौतम बुद्ध, के समकालीन होने के बावजूद, जैन कालानुक्रम को उसकी आन्तरिक त्रुटियों के कारण से मानना संभव नहीं है।

कुछ विद्वानों ने समय–समय पर अषोक के सासाराम, रूपनाथ और बैराट के तीन षिलालेखों, जो संख्या 256 का हवाला देते हैं, के आधार पर दीर्घकालानुक्रम का समर्थन किया है। यह संख्या इन विद्वानों द्वारा इन शिलालेखों के प्रतिष्ठापन और महापरिनिर्वाण के बीच 256 वर्षों के समय–अन्तराल के रूप में प्रस्तुत की गई है।[67] इन शिलालेखों के आधार पर कुछ विद्वानों द्वारा लघुकालानुक्रम से मिलती–जुलती तिथि प्रस्तुत करने का एक प्रयास भी किया गया है। उदाहरणार्थ, टी॰डब्ल्यू॰ रायस डेविड्ज़ ने, इस आधार कि संख्या 256 इन शिलालेखों की स्थापना और बुद्ध के गृह–त्याग के बीच के समय का प्रतिनिधित्व करती है, "426 ई॰पू॰ अथवा उसके कुछ साल बाद"को महापरिनिर्वाण की तिथि के रूप में पेश किया।[68] तथापि, कुछ विद्वान तो इन शिलालेखों को अषोक के शिलालेख ही नहीं मानते।[69] इन विद्वानों का कहना है कि ये शिलालेख उतना नहीं कहते, जितना कहते बतलाए गए हैं। उदाहरण के लिए, हर्मन्न ओल्डनबर्ग का यह मानना था कि इन

[66] A. Bareau, *Op. Cit*, 1953: 56.

[67] G. Bühler, "Three New Edicts of Aśoka," *Indian Antiquary*, 6, 1877: 149-160.

[68] T.W. Rhys Davids, "The New Asoka Inscriptions," *The Academy*, XII, 14 July 1877: 37.

[69] R. Pischel, "The Asokan Incriptions," *The Academy*, XII, 11 August 1977: 145.

शिलालेखों में न तो "वर्ष" के लिए किसी शब्द का प्रयोग किया गया है और न ही ये बुद्ध की कोई बात करते हैं, बल्कि इन में संख्या 256 का तो 256 प्राणियों के लिए प्रयोग किया गया है।[70]

दीर्घकालानुक्रम की परम्परा को ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से पहले किसी भरोसे के साथ नहीं ढूंढ़ा जा सकता,[71] और जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे, यह मगध के राजाओं के कालानुक्रम के साथ मेल भी नहीं खाती।

ई॰जे॰ टॉमस का विचार था कि दीपवंस में प्रासंगिक परिच्छेद *(I.24–25 और V.55–59)*, वास्तव में, लघुकालानुक्रम के मूल रूप को इंगित करते हैं जिसका दीपवंस के आखिरी भाषांतर के समय दीर्घकालानुक्रम में स्वांगीकरण होने से रह गया।[72] प्रथम परिच्छेद में यह भविष्यवाणी की गई है कि "प्रथम संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के चार माह बाद आयोजित होगी और द्वितीय उसके 100 वर्ष बाद।" दीपवंस की चार पाण्डुलिपियों में से तीन में पद 'द्वि' *(*दो*)* का सन्निविष्ट 'वस्ससते' *(*सौ वर्ष*)* से पूर्व हुआ है और तीन में से केवल दो में, बाद में। इसी प्रकार, द्वितीय परिच्छेद में भविष्यवाणी की गई है कि "भविष्य में, *(*बुद्ध से*)* 100 वर्षों *(*बाद*)* अषोक के समय पाटलिपुत्र में तिस्स अपधर्मियों को पराजित करेगा।"

उपरोक्त तर्कों के निष्कर्ष के रूप में, यह कहा जा सकता है कि ऐसा कोई विशेष कारण नहीं है जिसके आधार पर इन दोनों

---

[70]Hermann Oldenberg, "Die Datierung der neuen angeblichen Asoka-Inschriften," *Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft*, 35, 1881: 472-476.

[71]M. Winternitz, *A History of Indian Literature*, vol. 2, Calcutta: University of Calcutta, 1933: 597.

[72]E.J. Thomas, "Theravādin and Sarvāstivādin dates of the Nirvāṇa," in D.R. Bhandarkar *et al* (ed), *B.C. Law Volume,* vol. 2, Poona, 1946: 18-22.

कालानुक्रमों में से किसी एक को दूसरे की तुलना में स्वीकार किया जा सके।

फिर भी, दो महत्त्वपूर्ण कारण, बुद्ध की तिथि के लिए अपेक्षाकृत कम समय का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। ये हैंः पुरातात्त्विक स्रोत और आचार्यपरम्परा में विनयपामोक्खों की तालिका। गंगा घाटी से सम्बन्धित पुरातात्त्विक स्रोत प्रदर्शित करते हैं कि (संभवतः कौषाम्बी को छोड़कर) लगभग 450 ई॰पू॰ तक गंगा सभ्यता की नई नगरीय व्यवस्था में वे नगर नहीं थे, जिनकी आशा आद्य बौद्ध साहित्य को पढ़ने के बाद उत्पन्न होती है। निर्माण में पक्की ईंटों का विस्तृत प्रयोग, पूर्ण विकसित पानी निकासी (sanitation) इत्यादि बाद के समय तक उत्खनन में नहीं मिलते। आद्य बौद्ध साहित्य में समृद्ध और पूर्ण विकसित नगरीय केन्द्रों की उपस्थिति को इतिवृतात्मक रूप (as a matter of fact) में लिया गया है। हालाँकि गंगा नगरीकरण की जड़ें लगभग 500 ई॰पू॰ के आसपास तक खोजी जा सकती हैं, पुरातात्त्विक अभिलेख स्पष्टः संकेत करते हैं कि जिस प्रकार के नगरीय केन्द्रों का वर्णन प्राचीनतम बौद्ध ग्रंथों में आता है वैसे नगरों का उद्भव पाँचवीं षताब्दी से पहले संभव प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार के तर्क के आलोचक कह सकते हैं कि ऐसे संदर्भ या तो बाद में जोड़े गए क्षेपक हैं या फिर त्रिपिटक के संबद्ध भाग बाद की रचनाएँ हैं। परंतु इस प्रकार की आलोचना नकारात्मक प्रतीत होगी क्योंकि आद्य बौद्ध साहित्य में दर्षित पूरा भौतिक वातावरण (material milieu) नगरीय है। पालि त्रिपिटक में हम कहीं भी देखें, यह एक ऐसी नगरीय संस्कृति को दर्शाता है जिसमें विकसित राज–प्रणाली, षासक और उनके मंत्रीगण तथा धनी व्यापारी षामिल हैं। विनय और सुत्त पिटक में कम से कम 173 नगरीय केन्द्रों (जिनमें से कुछ मिथक तथा बाद के भी हो सकते हैं) का उल्लेख मिलता है जो पहले दो पिटकों में समान रूप से फैले

हुए हैं।[73] यहाँ एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि संभवतः सम्मान प्राप्ति अथवा अन्य कारणों के लिए संपूर्ण बौद्ध साहित्य विभिन्न नगरों पर थोप दिया गया हो क्योंकि बौद्ध साहित्य में ग्रामीयता *(*ruralism*)* से संबंधित षब्दों को, जैसा कि गामधम्म[74] *(*दुष्ट आचरण*)* और गामकथा[75] *(*देहाती बकवाद*)*, जैसे षब्दों को बुरे षब्दों की सूची में सम्मिलित करके उनकी अवहेलना की गई है। पर इस प्रकार के तर्क को स्वीकारना असंभव होगा। यह केवल नगरों की बात नहीं है, आद्य बौद्ध साहित्य में तो सर्वत्र वह सब भी मिलता है जिस से नगरी सभ्यता बनती है। लंबी दूरी का व्यापार, पूँजीगत अर्थव्यवस्था, वित्तीय लेनदेन, सूदखोरी, गिरवीदारी, विकसित राज्य और उसका साजो–सामान, वेश्यावृत्ति, और कई अन्य विशेषताएँ आद्य बौद्ध–साहित्य में स्पष्टतः एक पूर्ण विकसित नगरीकरण की उपस्थिति को दर्शाते हैं।[76] अगर हम अपने संदेह को इस हद तक विस्तृत करते हैं कि बौद्ध साहित्य के लेखकों के बौद्धिक व्यायाम को

---

[73] ***इनमें से 80 से अधिक नगरीय केंद्रों की पहचान की जा चुकी है। देखें,*** K.T.S. Sarao, "Urban Centres Reflected in Early Buddhist Literature," a paper presented at the *8th Conference of the International Association of Buddhist Studies*, Berkeley, USA, 8 August-11 August 1987; "Who and What Originated Earliest Buddhism?," a paper presented at the *7th World Sanskrit Conference*, Leiden, Holland, 23 August- 29 August 1987 and later published as "Background to the Origin of Earliest Buddhism," *Indologica Taurinensia*, 15-16, 1989-90: 305-318; *Urban Centres and Urbanization as Reflected in the Pāli Vinaya and Sutta Piṭakas*, Ph.D. Thesis Submitted to the University of Cambridge, 1989 and later published under the same title, Delhi: Vidyanidhi, 1990.

[74] D.I.4; A.I.211; J.II.180; VvA.11; DA.I.72. At J.II.180. *गामधम्म* ***को*** *वसलधम्म* ***के बराबर माना गया है।***

[75] Sn.922.

[76] ***नगरों की विभिन्न श्रेणियों के लिए देखें,*** K.T.S. Sarao, *Op. Cit*, 1987, 1989.

इस घटनात्मक ठगी का श्रेय दें तब तो फिर तो गौतम बुद्ध को मिथकीय आकृति मानने वाले दिनों की ओर पीछे जाने से भी कोई किसी को नहीं रोक सकता। यह कल्पना करना भी कठिन है कि बुद्ध एक ग्रामीण समाज में जीये हों और नए–नए पनपे गंगा नगरीकरण के दिनों में व्यापारियों और व्यवसायी–सेठों द्वारा इसमें नई जान डाले जाने तक यह धर्म शिथिल रहा हो। कारण स्पष्ट है। गौतम बुद्ध के जीवन और कार्यों में नगरीय षिष्टता इतनी अधिक झलकती है कि उन्हें पूर्व–नगरीय समाज में रहते हुए कल्पना करना कठिन होगा।

महापरिनिब्बान सुत्तन्त के उस भाग को,[77] जिसमें छः महानगरों का उल्लेख आता है, प्राचीनतम बौद्ध–साहित्य का हिस्सा माना गया है।[78] ये महानगर थेः चंपा, राजगृह, श्रावस्ती, कौषाम्बी, साकेत और वाराणसी। जब हम इन नगरों के उत्खननकर्ताओं द्वारा दिए गए अपर्याप्त साक्ष्यों को देखते हैं तो स्पष्टतः लघुकालानुक्रम के साथ सहमत होने का प्रलोभन होता है।

साकेत की पहचान के संबंध में अभी भी कई समस्याएँ हैं। यहाँ कुछ विद्वान कहते हैं कि यह अयोध्या ही थी, वहीं अन्य इसे पूर्णतः अलग बस्ती मानते हैं। यदि साकेत की पहचान अयोध्या से की जाए तब सातवीं–छठी शताब्दी ईसा पूर्व में यह एक झोंपड़–पट्टी *(*wattle-and-daub*)* से अधिक कुछ नहीं रही होगी।[79] यदि पुरातात्त्विक साक्ष्यों पर विश्वास किया जाए तो यहाँ का विषाल परकोटा मौर्यकाल के प्रारंभिक भाग से संबंधित लगता है। एक पक्की मिट्टी के कूएँ को छोड़कर *(*शुंग काल*)* यहाँ पर कोई पानी

---

[77]D.II.146.

[78]G.C. Pande, *Studies in the Origins of Buddhism*, Allahabad: University of Allahabad, 1957: 98; M. Winternitz, *A History of Indian Literature*, tr. S. Ketkar & H. Kuhn, vol. 1, Calcutta: University of Calcutta,1933: 39.

[79] ***देखें***, *IAR* 1955-56: 71; 1969-70: 40-41; 1976-77: 52-53.

निकासी या सीड़ *(*sanitation or soakage*)* से संबंधित व्यवस्था नहीं पायी गई है।

राजगीर *(*प्राचीन राजगृह*)*[80] में चारों ओर खाई वाला सबसे पुराना परकोटा, जो गीली मिट्टी का बना हुआ था, पक्के तौर पर 5वीं शताब्दी ईसा पूर्व के पहले का नहीं हो सकता। हालाँकि यहाँ के बुद्ध से संबंधित अधिकतर महत्त्वपूर्ण स्थान जैसे कि सत्तपण्णिगुहा और गिज्झकूट बहुत पहले से पहचाने जा चुके हैं, लेकिन प्राचीन काल का कोई भी बौद्ध अवशेष वहाँ से नहीं मिला है। कई दीर्घवृत्ताकार महाकक्ष, जो मिट्टी और चूने से बने पत्थर से बनाए गए थे, उनमें से जो सबसे बड़ा है और जिसकी कोई तिथि नहीं दी गई है, उसे मुख्यतः मौर्य काल का कहा जा सकता है। हालाँकि विशेष रूप से इस बस्ती के निवास स्थान और परकोटे पर ध्यान दिया गया है लेकिन कहीं भी कोई पुरानी तिथि सिद्ध नहीं की जा सकी है। निवास स्थान और परकोटे के लिए जो रेडियो–कार्बन *(*C^{14}*)* तिथियाँ ***दी गई हैं, वे हैं: 245± 105, 260± 100 और 265± 105*** ई॰पू॰। विभिन्न गणनाओं के अनुसार, नए राजगृह का परकोटा जिसे अजातषत्रु के समय का कहा जा सकता है, लगभग 400 और 300 ईसा पूर्व के बीच बनाया गया था। हालाँकि अभी तक उत्तरी काले परिष्कृत मृद्भाण्डों *(*NBPW= Northern Black

---

[80] A. Cunningham, *Archaeological Survey Reports*, 1871, 1873 & 1878; T. Bloch, “Excavations at Rājgīr,” *ARASI, Eastern Circle* 1905-06; J. Marshal, “Rājagṛiha and its Remains,” *ARASI* 1905-06; V.H. Jackson, “Notes on Old Rājagṛiha,” *ARASI* 1913-14; D.N. Sen, “Sites in Rājgīr associated with Buddha and His Disciples,” *Journal of the Bihar Research Society (Buddha Jayanti Special Issue)* 1956: 136-158; A. Ghosh, “ Rājgīr 1950,” *Ancient India, Bulletin of the ASI,*7, 1951: 66ff; *IAR* 1953-54: 9, 1954-55: 16ff, 1957-58: 11, 1958-59: 13, 1961-62: 6-8, 1962-63: 5f; A. Ghosh & M.H. Kuraishi, *Rājgīr*, 5th edition, New Delhi, 1958; S.M. Karimi, “Rājagṛha: The Magadhan Capital,” *Journal of the Bihar Research Society,* LV, 1969: 69-89; G. Erdösy, “Early Historic Cities of Northern India,” *South Asian Studies,* 3, 1987: 1-23.

Polished Ware*)* के साथ पाए जाने वाले अन्य मृद्भाण्डों की तिथियाँ अस्पष्ट हैं, इन परिणामों के बाद भी राजगृह के उत्थान का ***समय 500 ईसा पूर्व से पहले का नहीं हो सकता। जो भी हो, राजगृह निश्चिततः भारत के नए नगरों में से एक है।***

विभिन्न अवस्थाओं में बने सहेठ–महेठ (प्राचीन श्रावस्ती)[81] के विषाल परकोटे के प्राचीनतम भाग को लगभग 400 ईसा पूर्व का भी मुश्किल से कहा जा सकता है। ईंटों *(*अव्याख्यायित*)* का बना ढाँचा लगभग 275 ईसा पूर्व के बाद का लगता है। श्रावस्ती में मौर्य काल से पहले की पानी निकासी या सीड़ से संबंधित कोई व्यवस्था नहीं मिली है। यह बस्ती छठी शताब्दी ईसा पूर्व से प्राचीन प्रतीत नहीं होती।[82]

राजघाट *(*प्राचीन वाराणसी*)*[83] में मिट्टी की इमारतों के ढाँचों के जो अवशेष मिले हैं वे छठी–पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से लेकर चौथी–तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बीच के हैं। अगर उत्खनन अभिलेखों पर विश्वास किया जाए तो मौर्य काल से पहले यह जगह

---

[81] A. Cunningham, *Archaeological Survey Reports* I, 1871: 317ff, 330ff; J. Ph. Vogel, "Excavations at Saheth-Maheth,"*ARASI*: 1907-08: 81-131 and "The Site of Śrāvastī,"*JRAS*: 1908: 971ff; D.R. Sahni, "A Buddhist Image Inscription from Śrāvastī," *ARASI*: 1908-09: 133-38; J.H. Marshall, "Excavations at Saheth-Maheth," *ARASI*: 1910-11; IAR 1955-56: 71, 1958-59: 47-50; M. Venkataramayya, *Śrāvastī,* Delhi, 1956.

[82] K.K. Sinha, *Excavations at Śrāvastī: 1959*, 2,Varanasi: Monograph of the Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology, BHU, 1967.

[83] IAR 1957-58: 50, 1960-61: 37, 1961-62: 58, 1062-63: 41, 1963-64: 58-59, 1964-65: 44, 1965-66: 55; A.K. Narain & P. Aggarwal, *Excavations at Rajghat, 1957-58, 1960-65*, Varanasi: Banaras Hindu University, 1978; A.K. Narain & T.N. Roy *Excavations at Rajghat: 1957-58, 1960-65*, 4 vols., Varanasi: Banaras Hindu University, 1976-78.

कोई खास नगरीय नहीं थी। असल में, राजघाट का प्रमुख नगरीय काल मौर्योत्तर काल से संबंधित है।

कोसम (प्राचीन कौषाम्बी)[84] के वे उत्खनन अभिलेख, जिनके आधार पर यहाँ के परकोटे की तिथि दूसरी सहस्राब्दी ईसा पूर्व दी गई थी, को अनेकों विद्वानों ने खंडित किया है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कौषाम्बी गंगा नगरीकरण के प्राचीनतम नगरीय केन्द्रों में से एक थी। यहाँ बड़ी संख्या में ऊपर से लेकर प्राकृतिक भूमि तक विभिन्न सतहों को तो निर्धारित किया जा चुका है, लेकिन यहाँ पर विशेष रूप से प्रारंभिक बौद्व क्षितिज को दिखलाना संभव नहीं है। कुषाण काल के एक विषाल विहार के ढाँचे के अनावरण के बाद ही कौषाम्बी का बौद्ध धर्म से सीधा संबंध स्थापित हो पाया।

गौतम बुद्ध के चंक्रमण के ऊपर वाले षिलालेख के अनुसार स्थापित की गई कनिष्क प्रथम के वर्ष 2 की घोसिताराम से मिली एक चक्रवर्ती बुद्ध की मथुरा–प्रतिमा, कोसम से पाया गया सबसे पुराना स्मारक चिह्न है।[85] एक अंकित पटिया की सहायता से विहार को जाने–माने घोसिताराम के साथ पहचाना गया।[86] प्रत्यक्ष दीवारें कुषाण काल से पहले की नहीं हैं, लेकिन विहार का मुख्य स्तूप पहले का हो सकता है। उत्खननकर्ता जी॰आर॰ शर्मा ने इसकी प्रथम अवस्था के निर्माण को बुद्ध की मृत्यु के बाद की शताब्दी में रखा है, हालाँकि ऐसी अटकलबाज़ी (speculation) के लिए कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। उन्होंने तिथियों को इतना बढ़ा–चढ़ाकर बताया है कि यहाँ के जिस पत्थर के भवन की तिथि उन्होंने छठी शताब्दी

---

[84]IAR 1958-59: 68, 1961-62: 9, 1962-63: 6, 1963-64: 8, 1964-65: 7, 1968-69: 5-6; 1970-71: 7-8; 1971-72: 6-7; 1972-73: 8, 1980-81: 9,; G.R. Sharma, *The Excavations at Kausambi, 1957-59*, Alllahabad: University of Allahabad,1960: 27-41; *MASI* 1969: 36-39.

[85]K.G. Goswami, "Kosam Inscription of (the Reign of) Kanishka: the Year 2," *EI*, xxiv: 210ff; P. Chandra, *Stone Sculpture in the Allahabad Museum*, Bombay, 1970, no. 85, plate: xxxvii.

[86]A. Ghosh.*EI*.xxxiv.14ff.

ईसा पूर्व दी है और उसे बुद्ध के समकालीन उदयन के साथ जोड़ा है, उसी के बारे में एक दूसरे उत्खननकर्ता अनुभव करते हैं कि यह भवन इतना अभिनव है कि "असल में यह सोलहवीं शताब्दी ई॰ के आस–पास के समय का हो सकता है।"[87] एक दूसरे विद्वान ने इस भवन के परकोटे का समय पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व निर्धारण किया है।[88]

चम्पानगर (प्राचीन चम्पा)[89] के उत्खनन अभिलेख दिखलाते हैं कि परकोटे की तिथि पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले की और इसमें पक्की ईंटों का प्रयोग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से पहले के नहीं हो सकते।

"संपूर्ण विकास के क्रम को ध्यान में रखते हुए और बस्तियों के आंतरिक प्रमाणों का विश्लेषण करने पर, केवल यही विचार पैदा होता है कि... (वैषाली और कौषाम्बी के)... दोनों परकोटों और इसलिए नगरों के उद्भव के समय का निर्धारण बढ़ा–चढ़ा कर किया गया है।"[90] ***अगर हम इन छः बस्तियों के अस्तित्व को*** *महानगरों* ***के रूप में मान लें तब*** भी गंगा

---

[87]B.B. Lal, "Are the Defences of Kausambi Really as old as 1025 BC?," *Purātattva*, 11, 1979-80: 88-95; "The So-called Syenachiti at Kausambi: A Fallen Brick Mass," *Purātattva*, 15, 1986: 94ff; "When Did Udayana Rule?," *Purātattva*, 15, 1986: 80ff.

[88]G. Erdösy, "Early Historic Cities of Northern India," *South Asian Studies*, 3, 1987: 6.

[89]IAR 1968-69: 4, 1969-70: 2, 1970-71: 4-5, 1971-72: 5, 1972-73: 6-7, 1974-75: 8-9, 1975-76: 7, 1976-77: 11-12.

[90]A. Ghosh, *The City in Early Historic India*, Simla: Indian Institute of Advanced Study, 1973: 11.

नगरीकरण के उद्भव का समय ***शायद पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व से पहले का नहीं हो सकता।***[91]

जब अपनी मृत्यु से कुछ समय पहले बुद्ध पाटलिग्राम गए, तब उन्होंने देखा कि अजातषत्रु के दो मंत्री, सुनीध और वस्सकार, वज्जियों के संभवतः आक्रमण से बचाव के लिए पाटलिपुत्र की क़िलेबंदी कर रहे थे।[92] यह तथ्य इस बात का संकेत है कि जब बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ उस समय तक पाटलिपुत्र ने वह ख्याति प्राप्त नहीं की थी जो उसने बाद में राजधानी के रूप में प्राप्त की। प्रसंगवश, पाटलिपुत्र के प्राचीन स्थान से पाई गईं लकड़ी के खम्भों की प्राचीरें *(*palisades*)*, जिनका यहाँ की रक्षा के लिए प्रयोग किया गया था, संभावितः चन्द्रगुप्त के समय से संबंधित हैं और उस चल रही प्रक्रिया के अंतिम रूप के प्रतिनिधि हों जो अजातषत्रु के काल में आरम्भ हुई होगी। क्या खोदाई में पाए गए स्तम्भनुमा–भवन की भी यही स्थिति हो सकती है जिसे संभवतः थेर उदेन की सलाह पर घोतमुख द्वारा बनवाया गया था?[93] जिस प्रकार से मज्झिम निकाय में इस का वर्णन दिया गया है उससे इस भवन की रचना की पृष्ठिका बिल्कुल विश्वसनीय प्रतीत होती है। इस वर्णन के अनुसार, बुद्ध की मृत्यु के बाद ब्राह्मण घोतमुख उदेन के पास गया और उसे बताया कि वह उसे 500 कहापण प्रतिदिन दान करना चाहता था जो उसे खुद को अंग का राजा स्थायी भिक्षा *(निच्चभिक्खा)* के रूप में देता था। लेकिन क्योंकि भिक्षुओं के लिए “सोना और चाँदी स्वीकार करना मना था,” घोतमुख ने “उदेन के लिए एक विहार बनाने की इच्छा प्रकट की।” इस पर उदेन ने कहा कि अगर वह उसके लिए एक विहार बनवाना चाहता है तो उसे “पाटलिपुत्र में संघ के लिए

---

[91] ***लगभग ±100 वर्ष संभावित*** C^{14} ***तिथियों के लिए रखते हुए।***

[92] D.II.86ff.

[93] M.II.163.

एक सभा भवन (*उपट्ठानसालं*) बनवाना चाहिए।" आगे इसी मूल ग्रंथ में बताया गया है कि तब घोतमुख "ने अपनी सीाईकृ *(*और*)*... आगे की भिक्षा से संघ के लिए पाटलिपुत्र में एक सभा भवन बनवाया।... *(*जिसे*)*... घोतमुखी के नाम से जाना जाने लगा।" अतः कुमराहर के स्तम्भनुमा–भवन को इन दोनों वर्णनों से सीधे जोड़ने की कोशिश किए बिना ही, हम यह कह सकते हैं कि इस तरह के *(*लकड़ी या पत्थरों से बने*) **भवनों की परम्परा संभवतः बुद्ध के समय की हो सकती है, विशेषकर यदि बुद्ध की तिथि कुछ समय बाद की हो। गंगा घाटी से मिले*** पुरातात्त्विक ***आँकड़े दर्शाते हैं कि लगभग 500 ईसा पूर्व तक भी नयी नगरीय बस्तियाँ, वास्तव में, वे नगर नहीं थीं जिनकी आद्य बौद्ध साहित्य को पढ़ने के बाद आशा की जा सकती हो।***[94]

भारत में सिक्कों के उद्भव की तिथि को लेकर विद्वान एक मत नहीं है। कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तावित किया गया है कि गंगा घाटी के प्राचीनतम सिक्के चौथी शताब्दी ईसा पूर्व के पहले के नहीं माने जा सकते,[95] जबकि दूसरों का कहना है कि प्रारंभिक सिक्कों का काल निर्धारण करना संभव नहीं है, तब भी "सिर्फ इतना कहा जा सकता है कि... सिक्के... पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में प्रचलित थे।"[96] हालाँकि उत्तरकालीन वैदिक ग्रंथों में सिक्कों का कोई प्रमाण नहीं मिलता, अनुमानतः कीमती धातुओं का प्रयोग भुगतान के रूप में किया जाता था। मसाओं–डीह से उत्तरी काले परिष्कृत मृद्भाण्ड पड़ाव *(*NBPW level*)* पर 3000 कौड़ियों की खोज, सिक्कों के

---

[94] ***संपूर्ण व्याख्या के लिए देखें***, K.T.S. Sarao, *Op. Cit.*, 1989: 15-18.

[95] ***देखें***, J. Cribb, "Dating India's earliest Coins," *South Asian Archaeology*, 1983: 535-554.

[96] P.L. Gupta, *Coins*, New Delhi: National Book Trust, 1969: 10f.

प्रचलन की शुरुआत से पहले की मुद्रा–*स्थिति पर आकर्षक प्रकाश डालती है। मुद्रा संबंधी वाद–विवाद में जाने से पहले, यह कहना सही होगा कि भारत में सिक्कों की शुरुआत पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में हो गई थी। पालि साहित्य के प्राचीनतम भाग भी एक विकसित मुद्रा–प्रणाली की उपस्थिति को स्वीकार करते हैं[97] और इस तरह की मुद्रा–प्रणाली, जिसमें भारी मात्रा में सोने और चाँदी के सिक्कों का लेन–देन होता था, के विकसित होने में ज़रूर समय लगा होगा।*

यद्यपि गंगा घाटी में विभिन्न संस्कृतियों का स्थलाकृतिक क्रम अब अच्छी तरह स्थापित हो चुका है, सुनिष्चित कालानुक्रम अभी भी विवादास्पद है। अब अनेकों जगहों की रेडियोकार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं।[98] हालाँकि विधिवत् वे विभिन्न संस्कृतियों के कालानुक्रम तय करने के लिए पर्याप्त होनी चाहिएँ, लेकिन अंषषोधन (calibration) के बावजूद कई तिथियों की अनियमितता ने पुरातत्त्वज्ञों को उसी तरह बाँट दिया है जिस प्रकार विद्वानों में बुद्ध की तिथि से संबंधित दो परम्पराओं को लेकर विभाजन हुआ है। हमें रेडियोकार्बन तिथियों पर विचार करते समय, उनसे संबंधित बहुत सारी दिक्कतों को भी ध्यान में रखना होगा, विशेषकर यह तथ्य कि “वे लिए गए नमूनों के काल का यथातथ्य कथन नहीं बल्कि

---

[97]Coins are mentioned by name at several places. E.g. Kahāpaṇa (A.V.83-84). Kings gave loans of capital to traders (D.I.135). Instances of large transactions are spread throughout the Pāli Canon.

[98]*विस्तृत जानकारी के लिए देखें*, G.L. Possehl, *Radiocarbon Dates from South Asia*, data-list circulated by the author in September 1987.

संभाव्यता के अनुमान हैं।"[99] *यह* संभव नहीं है कि हम किसी संस्कृति के भौगोलिक क्षेत्र के सभी भागों से उसके उद्भव एवं अंत की एक समान तिथियाँ ही प्राप्त हों। बौद्ध संघ एक सषक्त आर्थिक आधार पर आश्रित था। भिक्षु वर्षावास के समय निश्चित जगहों पर शरण लेते थे और ऐसा बड़ी नगरीय बस्तियों के नज़दीक सब से अधिक आसान रहता होगा। बड़े नगर अब केवल प्रषासकीय केन्द्र और पदावास (administrative centres and sovereign residences) ही नहीं थे बल्कि वे अब अर्थव्यवस्था और वाणिज्य के मुख्य केन्द्र (nerve centres of economy and commerce) बन गए थे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मौजूदा संदर्भ में पुरातात्त्विक आँकड़े अनिश्चित और असंतोषजनक (uncertain and unsatisfactory) हैं, लेकिन फिर भी बुद्ध के महापरिनिर्वाण की तिथि की गणना में उनका झुकाव पहले की अपेक्षा बाद की ओर ज्यादा दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में, यहाँ पर कम से कम बुद्ध की तिथि को सामान्य रूप से मानी जाने वाली तिथि से लगभग एक शताब्दी बाद की मानने के लिए अच्छी स्थिति दिखाई पड़ती है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, भवन और परकोट–निर्माण (palace and fortification construction) में ईंटों का व्यापक प्रयोग, काफी विकसित पानी निकासी (well developed sanitation), पूर्ण विकसित राज्य और उसका साजो–सामान (fully developed state system and its paraphernalia), आलीषान भवन (palatial buildings), विस्तृत अंतर्राज्यीय वाणिज्यिक नेटवर्क (extensive interregional commercial network), शक्तिशाली और प्रभावी व्यवसायी (powerful and influential business magnates),

---

[99] "they are not precise statements of the age of samples but estimates of probability." (D.H. Thomas, "The Awful Truth about Statistics in Archaeology," *American Antiquity*, 43, 1978: 232).

पूर्ण विकसित मुद्रा–प्रणाली *(*well-developed currency system*)*, वित्तीय लेनदेन की विभिन्न प्रथाएँ जैसे कि ***शिल्पसंघ, सूदखोरी, गिरवीदारी*** *(*guilds, usury, mortgage*)*, वेश्यावृत्ति इत्यादि सभी पालि त्रिपिटक में स्पष्टतः वर्णित हैं। केवल पहले दो पिटकों में ही कम से कम 173 नगरीय केन्द्रों का उल्लेख आता है।[100] आद्य बौद्ध साहित्य में निर्दिष्ट पूरा भौतिक वातावरण नगरीय है। प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में उल्लिखित छः महानगरों पर उपलब्ध आँकड़ों के एकत्रित विश्लेषण से ऐसा लगता है कि इस आकार के नगरीय केंद्र पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व के अंत से पहले उपस्थित नहीं थे। उत्तरवैदिक ग्रंथों और उनकी सामाजिक–आर्थिक परिस्थिति की तुलना में आद्य बौद्ध ग्रंथों में, एक फलता–फूलता शहरी जीवन, शक्तिशाली और प्रभावी व्यवसायियों द्वारा नियंत्रित समृद्ध अंतर्राज्यीय वाणिज्य, और गंगा घाटी में उस समय के अनेकों संघर्षरत महाजनपदों में से मगध का सब से अधिक शक्तिशाली राज्य के रूप में उदय होना इत्यादि तथ्य, दिए गए हैं। पाँचवीं षताब्दी ई॰पू॰ में गंगा घाटी की नगरीय बस्तियाँ, वास्तव में, वे भव्य नगर नहीं थीं, जिनकी आशा आद्य बौद्ध साहित्य में नागरिक जीवन के बारे में पढ़ने के बाद पैदा होती है। विभिन्न नगरों के परकोटों की बुद्ध के काल से संबंध की समस्या भी एक ऐसी समस्या है जिसका समाधान बहुत मुश्किल है। जब पुरातात्त्विक प्रमाणों को देखा जाए तो गंगा के सभी नगर *(*संभवतः कौषाम्बी को छोड़ कर*)* परकोटारहित थे जबकि परकोटे आद्य बौद्ध ग्रंथों में बार–बार उल्लिखित हैं। धनी लोग नगरों में शक्तिशाली एवं प्रभावषाली बन कर समृद्धि का जीवन व्यतीत करते थे। शक्तिशाली महाजनपदों का उद्भव जो मुख्यतौर पर बौद्ध साहित्य में अभिज्ञेय है, अतः छठी शताब्दी ईसा पूर्व *(*जैसा कि हम अब कहते हैं*)* की बजाय पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में कालांकित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त,

---

[100] ***देखें,*** K.T.S. Sarao, *Op. Cit.,* 1999: Appendix-2.

ऐसी विवृत्ति से, नगरीय बस्तियाँ और उनके प्रतिवासी राज्यों के क्रमिक विकास के लिए पर्याप्त समय भी उपलब्ध हो जाएगा। यही अंतर्राजीय वाणिज्यिक नेटवर्क के उद्भव तथा शक्तिशाली एवं प्रभावी नगरीय व्यवसायी वर्ग के विकास को लेकर भी कहा जा सकता है। विशेषकर बुद्ध के छठी शताब्दी ईसा पूर्व के काल और आद्य बौद्ध साहित्य, जो पहले से ही समृद्ध वाणिज्यिक संस्कृति को दर्षाता है, को देखकर लगता है कि नगरीय व्यवसायी वर्ग को विकसित होने के लिए उतने से ज्यादा समय की ज़रूरत हुई होगी जितना कि हम अक्सर उसे प्रदान करते हैं। नगरीय केन्द्रों, व्यवसायी वर्ग और समृद्ध अंतर्राज्यीय वाणिज्य के उद्भव की ऐसी बाद की तिथि से षायद आहत–मुद्रा *(punch-marked coins)* का परवर्ती काल में हुआ उद्भव भी स्पष्ट हो जाएगा। कुछ विद्वान यह समझते हैं कि यदि बुद्ध और अषोक के बीच के अन्तराल को बौद्ध धर्म के सिद्धांत–संबंधी विकास को लेकर देखा जाए तो ऐसा अध्ययन “थोड़ी–सी बाद की तिथि को अधिक संभावनीय मानता प्रतीत होगा।”[101] बौद्ध–काव्य का अध्ययन भी यही प्रदर्षित करता दिखाई पड़ता है कि संशोधित दीर्घकालानुक्रम “निष्चित रूप से समय के हिसाब से बहुत पीछे हटा मालूम पड़ता है।”[102] “ऐसा बड़ी आसानी से इस कल्पना के अनुरूप प्रतीत होगा कि अब तक बौद्ध धर्म ने कोई भी श्रेष्ठ स्मारक और संस्थाएँ स्थापित नहीं कीं थीं, बल्कि, इसकी अपेक्षा, जब करीब 300 ईसा पूर्व में मैगस्थनीज़ पाटलिपुत्र आया तब यह इतना तरुण सा था

---

[101] Lambert Schmithausen, “An Attempt to Estimate the Distance in Time between Aśoka and the Buddha in Terms of Doctrinal History,” Heinz Bechert (ed), *Op. Cit.*, 1992: 143.

[102] S. Lienhard, “A Brief Note on the Date of the Historical Buddha and Classical Poetry,” Heinz Bechert (ed), *Op. Cit.*, 1991: 196.

कि ठीक से दृष्टिगोचर भी नहीं था।"[103] ऐग्गर्मौन्ट भी यही अनुभव करते हैं कि "अषोक के समय बौद्ध धर्म बहुत तरुण था।"[104]

कालानुक्रमिक पद्धति में, जिस पर दीपवंस और महावंस आश्रित है, उपालि से महिन्द तक की आचार्यपरम्परा ने महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया। यह आचार्यपरम्परा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें श्रीलंका और भारत के इतिहासों की अविच्छिन्न समक्रमिक–संगति *(continuous synchronological connection)* सम्मिलित है। इन ग्रंथों में इस आचार्यपरम्परा को विस्तृत और संपूर्ण रूप में कार्यान्वित किया गया प्रतीत होता है। जैसा कि दीपवंस और महावंस के वृत्तान्तों से स्पष्ट है कि उनमें शिक्षक–षिष्य का संबंध था और यह अविच्छिन्नता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्यों की सूचियाँ जो विनय, श्रीलंकाई अभिलेखों और कुछ अन्य ग्रंथों में विनयधरों के रूप में मिलती हैं, वे बुद्ध की तिथि की गणना करने के लिए अन्य स्रोतों की तुलना में सर्वाधिक विष्वसनीय और उपयोगी हैं। चूँकि अधिकतर षोध संख्या 218 को ध्यान में रखकर हुआ था, इससे बुद्ध और अषोक के बीच के अंतराल के लिए विनयपामोक्खों के रूप में आचार्यों की संख्या[105] को लेकर एक समस्या थी। यह समस्या थी, अंतराल को भरने के लिए अपर्याप्त आचार्यों में से प्रत्येक को

---

[103] "It would seem to be easily compatible with the assumption that Buddhism had not yet produced distinctive monuments and institutions, and that, instead, it was still rather young and not yet fully visible when Megasthenes visited Pāṭaliputra around 300 B.C."(W. Halbfass "Early Indian References to the Greeks and the First Encounters between Buddhism and the West," H. Bechert (ed), *Op. Cit.*, 1995: 205.)

[104] P.H.L. Eggermont, "New Notes on Aśoka and His Successors II,"*Persica 4*, 1969: 97.

[105] Vin.V.2; *दीपवंस*.IV.27-46; *महावंस*.V.95,153.

विनयपामोक्ख के रूप में इतना अधिक समय देना कि वह असम्भव लगे। इस उक्ति ने एक यह गम्भीर समस्या भी पैदा कर दी थी कि जिन आठ थेरों ने द्वितीय संगीति में दस उच्छृङ्खलताओं (दसवत्थूनि) पर विचार किया था उन सब ने बुद्ध को भी देखा था![106] ***लेकिन ऐसे तथाकथित विरोधाभासों को थेरवादियों द्वारा की गई त्रुटिपूर्ण लिपिबद्धता समझा गया। राजाओं के कालानुक्रम को अधिक महत्त्व दिया गया है, हालाँकि इससे भी मुश्किलें पैदा हुईं। ये सारी मुश्किलें इसलिए पैदा हुईं कि संख्या 218 को सर्वोच्च माना गया।***

आचार्यों की सूचियों पर आधारित बुद्ध की तिथि की गणना में हमने अषोक के राज्याभिषेक की अपेक्षा चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण के वर्ष को आधार–वर्ष माना है। इससे बुद्ध की मृत्यु और आधार–वर्ष के बीच का अंतराल कम होने से गलती की संभावना भी कम हो जाती है। चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण की तिथि की तुलना में अषोक के राज्याभिषेक की तिथि ज्यादा समस्यात्मक है।[107] इसके अलावा कि कुछ विद्वान मोग्गलिपुत्र को ऐतिहासिक

---

[106] *दीपवंस*.IV.54-56; *महावंस*.IV.59.

[107]***देखें, उदाहरण के लिए,*** "Dating the Buddha: A Red Herring Revealed," Heinz Bechert (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha (Symposien zur Buddhismusforschung, IV, II),* Gottingen: 1991: 238-259. ***आचार्यपरम्परा के आँकड़ों के साथ मनमानी करने के अलावा, गोंब्रिच की परिकल्पना में सब से बड़ी कमी यह है कि उन्होंने अशोक के राज्याभिषेक की तिथि को आधार–वर्ष माना है। ऐसा करने से वह स्वयं बुद्ध की तिथि को न केवल 404 ईसा पूर्व से 422 ईसा पूर्व तक ले जाते हैं, अपितु मोग्गलिपुत्र पर जानकारी के प्रयोग से उनकी गणना में गलती की संभावना और भी बढ़ गई। देखें, उनका*** fn. 26.

व्यक्तित्व नहीं मानते,[108] उनके नाम को गंभीरता से न लिए जाने के के और भी कई कारण हैं। उनसे सम्बन्धित वृत्तान्तों में बहुत सारी ग़लतियाँ हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि या तो अषोक, महेन्द्र और श्रीलंका में बौद्ध धर्म के विस्तार को विष्वसनीयता देने के विचार से मोग्गलिपुत्र के नाम की कल्पना की गई थी या फिर उनसे संबंधित तथ्य किसी कारणवष अतिषयोक्ति करके दिए गए हैं। उदाहरण के लिए, दीपवंस में एक जगह बताया गया है कि उनकी मृत्यु 80वें साल में हुई,[109] दूसरी जगह 80 साल की आयु में[110] और तीसरी जगह उनकी आयु मृत्यु के समय 86 साल दी गई है।[111] ऐसा प्रदर्षित किया जा चुका है कि मोग्गलिपुत्र तिस्स, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने विनय की प्राप्ति सिग्गव से की थी, वह अषोक का सलाहकार भिक्षु था और उसने महेन्द्र का धर्मान्तरण किया था, सच तो यह है कि उसे एक कल्पित किंवदन्ती *(*a fabricated legend*)* के द्वारा सूची में डाला गया था और असल में वह षायद तीसरी या दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में पश्चिमी भारत में रहता था।[112]

---

[108] J. Przyluski, *Le Légende de l'Empereur Aśoka (Aśoka-Avadāna) dans les textes indiens et chinois, Paris,* 1923: 62-66; G. Yamazaki, "The lists of Patriarchs in the Northern and Southern Legends," Heinz Bechert (ed), *Op. Cit.* 1), Gottingen: 1991: 317-318.

[109] *दीपवंस.*V.107.

[110] *दीपवंस.*V.95.

[111] *दीपवंस.*V.94.

[112] G. Yamazaki, "The Spread of Buddhism in the Mauryan Age, With Special Reference to the Milinda Legend," *Acta Asiatica*, 4, 1982: 1-16; "The List of the Patriarchs in the Northern and Southern Legends," Heinz Bechert (ed), *Op. Cit.*, 1991: 313-325.

उत्तरी स्रोत[113] बुद्ध की मृत्यु और अषोक के काल के बीच (मध्यान्तिक को छोड़कर, जिनका नाम किंवदन्ति–कथक भिक्षुओं द्वारा सन्निविष्ट किया गया लगता है) आचार्यों की तीन पीढ़ियों, अर्थात् महाकष्यप/ आनन्द→ साणवास→ उपगुप्त की बात करते हैं।[114] साणवास बुद्ध के समय मगध का एक व्यापारी था, जो बुद्ध की मृत्यु के बाद आनन्द के गुरुत्व में भिक्षु बना, बाद में मधुरा (मथुरा) चला आया और वहाँ उसने उपगुप्त को विहारवासी बनाया। साणवास, अवष्य ही मथुरा/ अहोगंग का वही सम्भूत–साणवासी होगा जिसने द्वितीय संगीति में भाग लिया था। चूँकि कई सम्प्रदायों में इसे लेकर सहमती है, ऐसा लगता है कि संभवतः द्वितीय संगीति में साणवास ने भाग लिया था। कहा जाता है कि उपगुप्त अषोक का अस्थायी सलाहकार–भिक्षु था, लेकिन प्रज़्यलुस्की (Przyluski) जैसे कुछ विद्वानों ने ऐसा मानकर भूल की है कि यह संपूर्ण सम्बन्ध, मथुरा के भिक्षुओं के द्वारा अपने शहर, सम्प्रदाय और पूर्वाधिकारी, प्रसिद्ध उपगुप्त, के गुणगान के लिए बनाई गई मनगढ़न्त कहानी है।[115]

---

[113]The *Aśokāvadāna* (T 2042, ch. 2-3: 111b 28-121b 1; T2043, ch. 6-9: 149b 162c 10), the *Divyāvadāna* (348, 1.27-364, 1.10), the *Mūlasarvāstivādin Vinaya,* the *Bhaiṣajyavastu* (*Gilgit Manuscripts* III, part I: xvii, 3-7; T 1448, ch. 9: 41c 18-42b 26), the *Kṣudrakavastu* (T 1451, ch. 40: 408c-411b 18), the *Saṃyuktāgama* (T 99, ch. 25: 177b 12-19) and the *Fên pieh kung tê lun* (T 1507, ch. 2: 37b 16-27). ***मैंने यह सन्दर्भ ग्रंथ–सूची*** Ē. Lamotte, *Op. Cit*.: 226 ***से ली है। इनमें से अधिकतर का फ्रेंच में अनुवाद*** J. Przyluski, “Le Nord-Ouest de l’Inde,” *JA,* 1914: 493-568 ***में उपलब्ध है।***

[114]E. Frauwallner, *The Earliest Vinaya and the Beginnings of Buddhist Literature*, Roma:Is. M.E.O., Serie Orientale Roma, 8, 1956: 34.

[115]J. Przyluski, *Op. Cit.,* 1923: 62-66; ਅਤੇ ਵੇਖੋ, G. Yamazaki, *Op. Cit*.1991: 314-316.

लेकिन लघुकालानुक्रम को देखा जाए तो उपगुप्त अशोक के समकालीन माने जा सकते हैं।

दक्षिणी बोद्ध स्रोतों के अनुसार, बुद्ध की मृत्यु और अशोक के काल के बीच में पाँच आचार्यों ने पारगम्य किया।[116] ये पाँच आचार्य थे: उपालि→ दासक→ सोणक→ सिग्गव→ ***मोग्गलिपुत्र तिस्स।***[117]

> ***74 (वर्ष) उपालि के, 64 दासक के,***
> ***66 थेर सोणक के, 76 सिग्गव के,***
> ***80 मोग्गलिपुत्तः यह उन सब की उपसम्पदा है।***[118]

यद्यपि यह पद्य पाँचों आचार्यों की उपसम्पदा के वर्षों की बात करता है, लेकिन, वास्तव में, ये वर्ष उनकी मृत्यु के समय की आयु के वर्ष हैं। यह तथ्य ऊपरी पद्य के पहले और बाद के पद्यों में स्पष्ट दिया हुआ है। जैसे कि दीपवंस.V.***103*** में बताया गया है कि उपालि ने 74 वर्ष की आयु में निर्वाण की प्राप्ति की थी।

> *विद्वान उपालि पूरे समय विनय के प्रमुख थे,*
> *थेर दासक (प्रमुख बने) 50वें (साल) में, सोणक 44वें में,*
> सिग्गव 55वें साल में मोग्गलिपुत्र (नामक) 68।[119]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऊपर लिखित पद्य का अर्थ अकसर पाँचों आचार्यों की विनयपामोक्खता के काल की

---

[116] *दीपवंस.*V.55-107; *महावंस.*V.95-153.

[117] *दीपवंस.*V.95-96.

[118] ***चतुसत्तति उपाली च, चतुसट्ठि च दासक,***
छसट्ठि सोणको थेरो, सिग्गवो तु छसत्तति
असीति मोग्गलिपुत्तो सब्बेसं उपसम्पदा। (*दीपवंस.* V.95).

[119] ***सब्बकालम्हि पामोक्खो विनये उपालिपण्डितो,***
प×ञासं दासको थेरो चतुचत्तारीसञ् च सोणको,
प×चप×ञासवस्सं सिग्गवस्स, अट्ठसट्ठि मोग्गलिपुत्तेसव्हयो।
(*दीपवंस.*V.96)

अवधि लगाया जाता है। लेकिन ऐसा मानना मुष्किल है क्योंकि न केवल किसी भी आचार्य के लिए इतने लम्बे समय तक विनयपामोक्ख बने रहना असंभव रहा होगा,[120] बल्कि इस पद्य का अर्थ भी इतना नहीं है जितना लगाया जाता है। इस पद्य की बुद्धिसंगत व्याख्या तो यही हो सकती है कि यहाँ पर दी गई संख्याएं विभिन्न आचार्यों के विनयपामोक्ख बनने के समय की उम्रें हैं। उपालि के संदर्भ में सब्बकालम्हि (अर्थात् पूरा समय) ***का अभिप्राय है कि उपालि बुद्ध की मृत्यु से लेकर अपनी मृत्यु तक के पूरे समय*** *विनयपामोक्ख* ***थे। इसके अतिरिक्त, दासक, सोणक, सिग्गव और मोग्गलिपुत्र के मामले में,*** *विनयपामोक्ख* ***बने रहने का अवधि–काल नहीं है बल्कि प्रत्येक आचार्य के*** *विनयपामोक्ख* ***बनने के समय की आयु दी गई है। इसका तात्पर्य यह है कि दासक, सोणक, सिग्गव और मोग्गलिपुत्र में से प्रत्येक क्रमानुसार अपनी आयु के 50वें, 44वें, 55वें और 68वें वर्ष में*** *विनयपामोक्ख* ***बना। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक की क्रमानुसार*** *विनयपामोक्ख* ***बनने के समय 49, 43, 54 और 67 वर्ष आयु रही होगी। इस युक्ति के आधार पर, पहले चार आचार्यों के*** *विनयपामोक्ख* ***की अवधि को इस प्रकार दिखाया जा सकता है:***

पामोक्ख का नाम	*मृत्यु के समय आयु*	*विनयपामोक्ख बनने पर आयु*	*विनयपामोक्ख* ***की अवधि***
उपालि	***74***	***44***	***30 वर्ष***
दासक	***64***	***49***	***15 वर्ष***
सोणक	***66***	***43***	***23 वर्ष***
सिग्गव	***76***	***54***	***22 वर्ष***
कुल			***90 वर्ष***

[120] ***क्योंकि वह काफी बड़ी आयु में*** *विनयपामोक्ख* ***बने होंगे।***

चूँकि इन चारों विनयपामोक्खों *की अवधि केवल वर्षों में दी गई है और महीनों तथा दिनों को छोड़ दिया गया है, हमने गलती की सीमा को कम करने के लिए प्रत्येक* पामोक्ख *की अवधि में एक वर्ष जोड़ दिया है। इस प्रकार, इन चारों* पामोक्खों *की कुल अवधि (अर्थात् बुद्ध की मृत्यु और सिग्गव की मृत्यु के बीच का समय) 90+4=94 वर्ष बनती है। जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे, सिग्गव की मृत्यु वर्ष लगभग 303 ईसा पूर्व में हुई। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बुद्ध की मृत्यु वर्ष लगभग 397 (303+94) ईसा पूर्व में हुई।*

ऐसा लगता है कि उपालि ने संघ में काफी प्रौढ़ अवस्था में प्रवेश किया था। उसका जन्म एक नाई परिवार में हुआ था। उसने शाक्य राजकुमारों के यहाँ नौकरी की और बाद में उन्हीं के साथ संघ में प्रवेश किया।[121] बुद्ध के जीवन काल में भी, भिक्षु उसके अधीन विनय *सीखना अपना सौभाग्य समझते थे।[122] उसने* विनय *के अध्ययन में निपुणता प्राप्त की और विनयधरों के बीच प्रमुख स्थान बनाया* (विनये अग्गनिक्खित्तो)[123] *और इसी विशिष्टता के कारण काश्यप ने उसे राजगृह की संगीति में* विनय पिटक *के संकलन का कार्य सौंपा था। बताया जाता है कि जब बुद्ध की मृत्यु को 16 वर्ष हो चुके थे तब उपालि 60 वर्ष का था।[124] इसका तात्पर्य यह हुआ कि बुद्ध की मृत्यु के समय अर्थात्, जब वह* विनयपामोक्ख *बना, तब वह 44 (60–16) वर्ष का था। लेकिन, जैसा ऊपर बताया गया है, उसकी मृत्यु 74 वर्ष की आयु में हुई। इस प्रकार, उपालि 30 (74–44) वर्ष तक* विनयपामोक्ख *रहा। यह*

---

[121] Vin.II.182; DhA.I.116f; BuA.44 *इत्यादि।*

[122] Vin.IV.142; VA.IV.876.

[123] Dīp.IV.3,5.

[124] दीपवंस.IV.33, V.76.

***तथ्य** दीपवंस **में भी सीधे तौर पर बताया गया है कि उपालि 30 वर्षों तक** विनयपामोक्ख **रहा।**[125]*

दासक, जिनकी मृत्यु 64 वर्ष की आयु में हुई, वैशाली का एक विद्वान ब्राह्मण था और उसने प्रौढ़ अवस्था में धम्म के अध्ययन के लिए संघ में शरण ली थी।[126] जब उपालि की मृत्यु हुई तब राजा उदय अपने 16 वर्ष के शासनकाल में से 6 वर्ष पूरे कर चुका था।[127] इसका तात्पर्य यह हुआ कि उदय के शासन के अंतिम 10 (16–6) वर्षों के दौरान दासक** विनयपामोक्ख **था। लेकिन जब दासक की मृत्यु हुई तब सुसुनाग के 10 वर्ष के शासनकाल में से 8 वर्ष बीत चुके थे।[128] चूँकि अनुरुद्धक/मुण्ड ने उदय और सुसुनाग के राज्यकाल के बीच 8 वर्ष तक शासन किया था,[129] ऐसा लगता है कि दासक कुल मिलाकर 10+8+8=26 वर्षों तक** विनयपामोक्ख **रहा।

सोणक, जो काशी के एक कारवाँ–मुखिया का बेटा था, ने राजगृह में 15 वर्ष की आयु में संघ में प्रवेश किया।[130] जैसा कि हम जानते हैं, सुसुनाग ने 10 वर्षों तक शासन किया और दासक की मृत्यु सुसुनाग के शासन काल की समाप्ति के 8 वर्ष बाद हुई।[131] सुसुनाग की मृत्यु के बाद,

---

125 *दीपवंस*.IV.34, V.89.

126 *दीपवंस* .V.95; Vin.V.2; VA.I.32, 62, 235, VII.1304; Dvy.3ff ***इत्यादि।***

127 *दीपवंस*.V.97.

128 *दीपवंस*.V.97.

129 ***आगे के पृष्ठ देखें।***

130 Vin.V.2; VA.I.32, 62, 235, VII.1304 ***इत्यादि।***

131 *दीपवंस*.V.98.

दस बन्धुओं ने 22 वर्षों तक शासन किया और उनके शासनकाल के 6 वर्ष समाप्त होने के बाद सोणक की मृत्यु हुई।[132] *इसका तात्पर्य यह हुआ कि सोणक सुसुनाग के शासनकाल के अंतिम दो वर्षों और दस बन्धुओं के शासनकाल के आरम्भिक 6 वर्षों के दौरान, अर्थात् कुल 2+6=8 वर्ष* विनयपामोक्ख *रहा।*

सिग्गव, जो पाटलिपुत्र के एक मंत्री का पुत्र था, ने 18 वर्ष की आयु में संघ में प्रवेश लिया। उसके मित्र चंदवज्जी ने भी उसके साथ संघ में प्रवेश लिया।[133] *सिग्गव दस बन्धुओं के शासनकाल के अन्तिम 16 (22–6) वर्षों के दौरान* विनयपामोक्ख *रहा। जब सिग्गव की मृत्यु हुई तब चन्द्रगुप्त के शासनकाल के 14 वर्ष बीत चुके थे।*[134] *दूसरे शब्दों में, सिग्गव कुल मिलाकर 30 (16+14) वर्षों तक* विनयपामोक्ख *रहा। लेकिन जैसा कि हम आगामी परिच्छेदों में देखेंगे, चन्द्रगुप्त दस बन्धुओं (जिन्होंने अपना शासन पाटलिपुत्र की अपेक्षा कहीं और से शुरू किया था) का उत्तराधिकारी नहीं था, क्योंकि कहा जाता है कि सुसुनाग का एक कालाशोक नामक पुत्र था जो पाटलिपुत्र में*[135] *28 वर्षों तक सत्तारूढ़ था।*[136] *ऐसा लगता है कि सुसुनाग के शासन के समय 10 वर्षों तक राज्यपाल के पद पर रहने के बाद, काळाशोक ने 28–10=18 वर्ष पाटलिपुत्र से राजा के रूप में राज्य किया और संभवतः राज्य के विभाजन के बाद दस बन्धु*

---

[132] *दीपवंस.*V.99.

[133] VA.I.32, 62, 235, VII.1304 *इत्यादि।*

[134] *दीपवंस.*V.73, 100.

[135] *दीपवंस.*V.25.

[136] *महावंस.*IV.7.

उसी जगह से शासन करते रहे जहाँ से सुसुनाग ने किया था। दूसरे शब्दों में, ऐसा लगता है कि चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र में काळाशोक का और राजगृह में दस बन्धुओं (संभवतः नन्द शासकों) का उत्तराधिकारी बना। कहा जाता है कि जब चन्द्रगुप्त ने अपने शासनकाल के दो वर्ष पूरे किए तब सिग्गव 64 वर्ष का था।[137] चन्द्रगुप्त का शासन वर्ष लगभग 317 ईसा पूर्व में शुरू हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि वर्ष लगभग 315 (317–2) ईसा पूर्व में सिग्गव 64 वर्ष का था। लेकिन चूँकि सिग्गव की मृत्यु 76 वर्ष की आयु में हुई थी, वह 315 ईसा पूर्व के बाद 12 (76–64) वर्ष और जीवित रहा। इस हिसाब से सिग्गव की मृत्यु वर्ष लगभग 303 (315–12) ईसा पूर्व में हुई। एक अन्य संदर्भ में भी इसकी पुष्टि की गई है जहाँ यह बताया गया है कि जब सिग्गव की मृत्यु हुई तब चन्द्रगुप्त के शासन के 14 वर्ष समाप्त हो चुके थे,[138] अर्थात् सिग्गव की मृत्यु वर्ष लगभग 303 (317–14) में हुई।

ऊपर की गणना का परिणाम निम्नलिखित हैं:

> *सिग्गव की मृत्यु लगभग 303 ईसा पूर्व में हुई। सोणक की मृत्यु सिग्गव से 30 वर्ष पहले, दासक की सोणक से 8 वर्ष पहले, उपालि की दासक से 26 वर्ष पहले और बुद्ध की मृत्यु उपालि से 30 वर्ष पहले हुई। दूसरे शब्दों में, लगभग 303 ईसा पूर्व और बुद्ध की मृत्यु के बीच 94 (30+8+26+30) वर्षों का अन्तर था। इसके अनुसार, बुद्ध की मृत्यु लगभग 397 (303+94) ईसा पूर्व में हुई।*

---

137 *दीपवंस*.V.81.

138 *दीपवंस*.V.73, 100.

जब द्वितीय संगीति आयोजित हुई, तब सुसुनाग का पुत्र,[139] काळाशोक, पाटलिपुत्र में शासन कर रहा था।[140] द्वितीय संगीति में सब्बकामी,[141] साळ्ह, रेवत, खुज्जसोभित, वासभगामि, सुमन, सम्भूत–साणवासी और यस काकण्डकपुत्त नामक आठ प्रतिष्ठित थेरों ने भाग लिया था।[142] कहा जाता है कि उन सबने बुद्ध को देखा था।[143] आनन्द के शिष्य, सोरेय्य–रेवत, जिन्होंने द्वितीय संगीति में भाग लिया था, ने भी बुद्ध को देखा था।[144] श्रीलंकाई अभिलेखों में बताया गया है कि द्वितीय संगीति का आयोजन काळाशोक के राज्यकाल के 11वें वर्ष में हुआ।[145] इसका तात्पर्य है कि द्वितीय संगीति का आयोजन बुद्ध के परिनिर्वाण से 62 वर्ष बाद अर्थात्

---

[139] VA.I.33.

[140] *दीपवंस*.V.25.

[141] ***सब्बकामी / सब्बकाम का जन्म बुद्ध की मृत्यु से पहले हुआ था*** (DPPN.II.1033).

[142] *दीपवंस*.V.21-23.

[143] *दीपवंस*.V.24. ***चूँकि इन सब ने बुद्ध को देखा था, बुद्ध की मृत्यु के 100 वर्ष बाद तक इन का जीवित होना और द्वितीय संगीति में भाग लेना लगभग असम्भव प्रतीत होता है। लेकिन, जैसा कि हम ने सुझाव दिया है, यदि द्वितीय संगीति का आयोजन बुद्ध की मृत्यु के 62 वर्ष बाद का मान लिया जाए तो ऐसा सम्भव हो सकता है।***

[144] *महावंस*.IV.57, 60.

[145] *दीपवंस*.IV.44, 47; *महावंस*.IV.8. ***लेकिन बाद के स्रोतों, जैसे कि*** *महाबोधिवंस* ***और*** *सासनवंस,* ***में द्वितीय संगीति का आयोजन काळाशोक के राज्यकाल के 10वें वर्ष में दिया गया है,*** (***देखें***, W. Geiger, *Op. Cit*, 1912: lv).

लगभग 335 ईसा पूर्व में हुआ।[146] *तृतीय संगीति पर जानकारी के लिए प्राचीनतम स्रोत क्रमशः* दीपवंस.I.25 *और* दीपवंस.VII.34-59 *हैं। अन्तिम स्रोत में दी गई जानकारी को संपादक/ संपादकों द्वारा अंक 218 को सही साबित करने के लिए* अट्ठकथा *में बढाया गया लगता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बाद के समय के विचारों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की विस्तृत जानकारी संलग्न कर दी गई है जिसे संदेह की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। तृतीय संगीति की तिथि निर्धारित करना मुश्किल मालूम पड़ता है, हालाँकि यह जब आयोजित हुई थी तब अशोक पाटलिपुत्र में शासन कर रहा था।*

यहाँ पर उन राजाओं के संबंध में कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक है जिन्होंने बुद्ध की मृत्यु और मौर्यों के बीच के काल में राज किया था। मौर्यों से पहले जिन राजाओं ने पाटलिपुत्र से शासन किया था वे थे उदइभद्द/उदायी,[147] *मुण्ड*[148] *और काळाशोक*[149]*। ऐसा लगता है कि अजातशत्रु की मृत्यु और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक के बीच, राजगृह और पाटलिपुत्र दोनों ने समकालिक राजधानियों की भूमिका अदा की।*

---

[146]देखें, K.T.S. Sarao, *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, 2nd revised edition, Delhi: R&R Publishers, 1999: Appendix I.

[147]Vin. Texts.II.102 fn 1.

[148]A.III.57.

[149]S. Beal, *Si-yu-ki: Buddhist Records of the Western World*, vol. 2, London: Trübner & Co.1906: 85; दीपवंस.V.25.

बिम्बिसार बुद्ध से पाँच वर्ष छोटा था और उसने कुल 52 वर्ष शासन किया। वह 15 वर्ष की आयु में राजा बना, अपने जीवन के अन्तिम 32 साल बुद्ध के अनुयायी के रूप में बिताए और 67 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। अजातशत्रु ने 32 वर्ष तक शासन किया। महापरिनिर्वाण के 24 वर्ष बाद उसकी मृत्यु हुई और बुद्ध की मृत्यु से 8 वर्ष पहले उसने राज करना शुरू किया।[150] *इसका तात्पर्य है, बिम्बिसार ने 8+50= 60 वर्ष बुद्ध पूर्व (397+60= लगभग 457 ईसा पूर्व) से 8 वर्ष बुद्ध पूर्व (397+8= लगभग 405 ईसा पूर्व) तक राज किया। अजातशत्रु ने 8 वर्ष बुद्ध पूर्व (405 ईसा पूर्व) से 24 वर्ष बुद्ध पश्चात् (397–24= लगभग 273 ईसा पूर्व) तक राज किया। दोनों ने राजगृह से राज किया।*

पालि स्रोतों का उदय/उदायी/उदयभद्द वही था जो पुराणों *का उदायिन। पालि स्रोत स्पष्ट बताते हैं कि उदयभद्द अजातशत्रु का बेटा था*[151] *और उसका उत्तराधिकारी बना।*[152] *लेकिन* पुराण *दर्शक/वंसक/दर्भक को इन दोनों के बीच रखते हैं।*[153] *लगता है कि या तो* पुराणों *ने उसे गलत रूप से शामिल कर लिया है और या फिर उसने राजगृह और पाटलिपुत्र के अलावा कहीं और से शासन किया था। उदय/उदायी/उदयभद्द उपालि की मृत्यु के समय 6 वर्षों से*

---

[150] दीपवंस.III.60.

[151] D.I.50.

[152] दीपवंस.V.97.

[153] **देखें**, P.H.L. Eggermont , *The Chronology of the Reign of Asoka Moriya*, Leiden: E.J. Brill, 1956: 145.

शासन कर रहा था।[154] उपालि 30 वर्ष विनयपामोक्ख रहा[155] और इस तरह से 74 (30–44) वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।[156] इसका तात्पर्य है कि उदय/उदायी/उदयभद्द अजातशत्रु का उत्तराधिकारी बना, क्योंकि उसका शासन बुद्ध के महापरिनिर्वाण से 24 (30–6) वर्ष बाद शुरू हुआ। उसने कुल मिला कर 16 वर्षों तक शासन किया।[157] इस तरह उसने 24 वर्ष बुद्ध पश्चात् (397–24= लगभग 373 ईसा पूर्व) से 26+16=40 वर्ष बुद्ध पश्चात् (397–40= लगभग 357 ईसा पूर्व) तक राज किया।

महावंस की सूची संदेहास्पद लगती है क्योंकि उदयभद्द, अनुरुद्धक, मुण्ड और नागदासक– इन सबको इकट्ठे पितृघातकों के रूप में दिखाया गया है। अनुरुद्धक और मुण्ड के शासनकाल को 8 वर्ष दिखाया है[158] जबकि पुराणों और दीपवंस में दी गई सूचियों में उनके नाम भी नहीं हैं। यह जानना भी दिलचस्प होगा कि मुण्ड/महामुण्ड तथा अनुरुद्ध/अनुरुद्धक एक ही व्यक्ति था।[159] मुण्ड जैन स्रोतों में

---

[154] दीपवंस.IV.43; V.97.

[155] दीपवंस.IV.39; V.89.

[156] यह दीपवंस.V.95 पर भी दिया गया है।

[157] दीपवंस.IV.43; V.97.

[158] महावंस.IV.2-3.

[159] दिव्यावदान.369 में बताया गया है कि मुण्ड उदायी का पुत्र था, जबकि DA.I.153 में अनुरुद्ध को महामुण्ड का पुत्र बताया गया है। चूँकि उन दोनों के शासनकाल को कुल 8 वर्ष का दिखाया गया है उन्हें एक या दो शासकों के रूप में लेने से हमारी गणना पर कोई असर नहीं पड़ता।

अनुपस्थित है लेकिन महावंस और अंगुत्तर निकाय में उसका उल्लेख मिलता है।[160] *ऐसा लगता है कि वह एक ऐतिहासिक राजा था। पुराणों द्वारा दी गई सूचियों में कुछ प्रत्यक्ष गलतियाँ हैं। जबकि वायु पुराण दस राजाओं की सूची देता है, मत्स्य पुराण अपनी सूची में दो और राजाओं को सम्मिलित करता है।*[161] *ऐसा प्रतीत होता है कि हालाँकि "वायु पुराण गुप्त और दूसरे राजवंशों की बात करता है, तब भी वायु की सामग्री मत्स्य पुराण से अधिक पुरानी है।"*[162] *अनुरुद्धक/मुण्ड के शासनकाल के 8 वर्षों को शायद 40 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 357 ईसा पूर्व) और 48 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 349 ईसा पूर्व) के बीच रखा जा सकता है।*

ऐसा प्रतीत होता है कि सुसुनाग ने, जिसे नागदासक के बाद रखा गया है, वास्तव में, नागदासक के साथ ही शासन शुरू किया। नागदासक संभवतः इन राजाओं के वंश से संबंधित नहीं था और उसे इस सूची में, महापरिनिर्वाण और द्वितीय संगीति के बीच 100 वर्ष का अंतराल दिखाने के लिए, शामिल कर लिया गया लगता है।[163] *ऐग्गमौन्ट भी ऐसा ही अनुभव करते हैं कि "नागदास एक ऐसी आकृति है, जो बाद में राजाओं की सूची में आई।"*[164] *यदि उसे एक ऐतिहासिक राजा माना जाए तब उसने शायद बिना किसी*

---

[160] *महावंस*.IV.2-3; A.III.57.

[161] **देखें**, P.H.L. Eggermont, *Op. Cit*: 145.

[162] V.R.R. Dikshitar, *The Matsya Purāṇa: a Study*, Madras: University of Madras, 1925: 74.

[163] *महावंस*.IV.8.

[164] P.H.L. Eggermont, *Op. Cit*,: 162.

विशेष उपलब्धि के 48 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 349 ईसा पूर्व) और 52 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 345 ईसा पूर्व) के बीच पाटलिपुत्र से 4 वर्ष शासन किया।

ऐसा लगता है कि नागदासक (यदि उसे एक ऐतिहासिक राजा मान लिया जाए) की मृत्यु के बाद, सुसुनाग ने अपने पुत्र काळाशोक को पाटलिपुत्र का राज्यपाल नियुक्त किया और खुद राजगृह से शासन करता रहा। सुसुनाग का शासन दासक की मृत्यु के दो वर्ष बाद समाप्त हुआ।[165] चूँकि उसका शासन 10 वर्षों तक चला,[166] ऐसा लगता है कि उसने 48 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 349 ईसा पूर्व) और 58 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 339 ईसा पूर्व) के बीच शासन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि सुसुनाग की मृत्यु के बाद दस बन्धु (संभवतः नन्द शासक) उसके उत्तराधिकारी बने जबकि उसका बेटा काळाशोक[167] पाटलिपुत्र में सत्तारूढ़ रहा (पिता की अनुपस्थिति में संभवतः पूरा आधिपत्य अपने हाथों में लेकर)[168]। दस बन्धुओं ने 22 वर्षों तक शासन किया।[169] सुसुनाग के 10 वर्ष[170] के शासन को महावंस *में बढ़ा–चढ़ाकर 18 वर्ष बताया गया है[171] और आगे नव नन्दों को जोड़ दिया*

---

165 *दीपवंस*.V.95.

166 *दीपवंस*.V.93.

167 *दीपवंस*.V.25.

168 *दीपवंस*.V.25.

169 *दीपवंस*.V.98.

170 *दीपवंस*.V.98.

171 *महावंस*.IV.6.

गया है,[172] *जो लगभग निश्चित रूप से दस बन्धुओं का द्विगुणीकरण (*duplication*) हैं। जैन सूची बिल्कुल दोषपूर्ण है और यहाँ उसकी चर्चा की आवश्यकता भी नहीं है। दूसरे कुछ विरोधाभासों को स्पष्ट करते हुए, गायगर बताते हैं कि जब चन्द्रगुप्त से पहले के राजवंश ने एक बार शैशुनाग के नाम को ग्रहण कर लिया तब उसकी महानता और पुरातनता की प्रशंसा करने के लिए, मूलपुरुष और उसके तात्कालिक उत्तराधिकारियों, जिनमें बिम्बिसार और उसके उत्तराधिकारी सम्मिलित थे, को सारे राजाओं की श्रृंखला में ऊपर रख दिया गया। इसमें पहले और दूसरे अर्द्ध के क्रम को उलटा कर दिया गया।*[173] *जैसा कि हर्मन्न जेकबी (*Hermann Jacobi*) कहते हैं, जैन स्रोतों के श्रेणिक और कुणीक, पाली स्रोतों के बिम्बिसार और अजातशत्रु हैं।*[174] *काळाशोक और काकवर्ण एक ही व्यक्ति के दो नाम थे,*[175] *हालाँकि अनूठे तरीके से पुराण सिसुनाग और काळाशोक को अजातशत्रु से पहले रखते हैं। चूँकि वे सुसुनाग के उत्तराधिकारी बने, उनका शासन 339 ईसा पूर्व से 317 ईसा पूर्व तक चला और ऐसा लगता है कि अपने पिता सुसुनाग की मृत्यु के बाद काळाशोक ने पाटलिपुत्र में संपूर्ण सत्ता अपने हाथ में ले ली और चन्द्रगुप्त के द्वारा लगभग 317 ईसा पूर्व में उतार फेंक दिए जाने तक शासन किया। इस हिसाब से, काळाशोक का पूरा शासनकाल 10+18=28 वर्ष बनता है, अर्थात् कि 52 वर्ष बुद्ध पश्चात्*

---

[172] *महावंस*.V.15.

[173] W. Geiger, *Op. Cit*, 1908: xlii.

[174] *देखें,* W. Geiger, *Op. Cit.*, 1908: xliii.

[175] W. Geiger 1908: xlii *पर उद्धृत किए अनुसार।*

(लगभग 345 वर्ष ईसा पूर्व) से 62 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 335 वर्ष ईसा पूर्व) तक राज्यपाल के रूप में और 62 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 335 ईसा पूर्व) से 80 वर्ष बुद्ध पश्चात् (लगभग 317 ईसा पूर्व) तक राजा के रूप में।

पुराण ***मौर्यों के पूर्वाधिकारी नन्दों के शासन को 100 वर्ष का दिखलाते हैं। इन 100 वर्षों में अकेले महापद्म नन्द के कार्यकाल को 88 वर्ष[176] और उसके 8 पुत्रों के कार्यकाल को केवल 12 वर्ष दिखाया गया है।[177] लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि*** दीपवंस ***में नन्दों के बारे में कोई चर्चा ही नहीं की गई है। इसका कारण यह हो सकता है कि उन्होंने पहली दो संगीतियों या किसी और बौद्ध गतिविधि में कोई भूमिका नहीं निभाई होगी और असल में, बौद्ध धर्म में उनकी कोई रुचि नहीं रही होगी। यह मानना असंभव है कि महापद्म ने 88 वर्षों तक शासन किया। यह जरूर बढ़ाया–चढ़ाया गया अंक है। सम्भवतः नन्दों के शासनकाल की अवधि काफी छोटी थी।*** महावंस ***में नन्दों के शासनकाल की अवधि केवल 22 वर्ष दी गई है।[178]*** महावंस ***में दी गई राजाओं की सूची को ध्यानपूर्वक न केवल इसलिए ही नहीं लेना होगा कि इसके संपादक/संपादकों ने*** दीपवंस ***में दिए गए आँकड़ों का प्रयोग किया लेकिन इसलिए भी कि अंक 218 (जो पहले से ही*** दीपवंस ***में कुछ अविश्वसनीय रूप से प्रवेश कर चुका था) को***

---

[176] F.E.Pargiter, *The Purāṇa Text of the Dynasties of the Kali Age*, facsimile of first edition, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Studies, 1913: 69.

[177] ***वही।***

[178] *महावंस*.V.15.

इसमें उचित ठहराने की कोशिश में कई नए नामों का आविष्कार किया गया।[179]

अन्त में, यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि हम प्रत्येक राजा के शासनकाल तथा विनयपामोक्ख की अवधि में एक वर्ष तक का विचरण नहीं मानते तो हमारे स्रोतों की गणना यथातथ्य नहीं होगी। राजाओं के शासनकालों तथा विनयपामोक्खों की अवधियों को संपूर्ण वर्षों में दिया गया है और महीनों तथा दिनों को अनदेखा कर दिया गया है। लगभग 100 वर्षों की गणना में कुछ वर्षों का इधर–उधर होना स्वाभाविक है। इसलिए, 397 ईसा पूर्व को बुद्ध की मृत्यु की तिथि के केवल आस–पास की तिथि के रूप में ही लेना चाहिए।

---

[179] *दीपवंस*.I.24-26V.25 *का ध्यान पूर्वक विश्लेषण दिखलाता है कि इन पद्यों का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि महापरिनिर्वाण और तृतीय संगीति के बीच 118 वर्ष का अंतराल था (देखें*, K.T.S. Sarao, *Urban Centres and Urbanization as Reflected in the Pāli Vinaya and Sutta Piṭakas*, Ph.D. thesis submitted to the University of Cambridge, 1989: 18*). इस की तुलना में गायगर (*1908*) का तर्क, कि चूँकि द्वितीय संगीति से सम्बन्धित कुछ पंक्तियाँ छूट गई हैं इसलिए 118 वर्षों को द्वितीय और तृतीय संगीति के बीच के अन्तराल के रूप में समझना चाहिए, ठीक प्रतीत नहीं होता। अंक 218, जो दीर्घकालानुक्रम की आधारशिला है, बाद में अस्तित्व में आया लगता है।*

पालि *विनय* और *सुत्त पिटक* का कालानुक्रम

गंगा नगरीकरण के भूगोल के एक व्यवस्थित विवरण के साहित्यिक स्रोतों में, पालि विनय *और* सुत्त पिटक *निःसंदेह सूचना के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, तथापि वे एक ऐसी सामग्री के निकाय से बने हैं जो प्रकृति में अत्यधिक धार्मिक और कालानुक्रम में बहुत समस्याग्रस्त है। ऐसी स्थिति में, प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य हेतु, प्रथमतया सभी चमत्कारिक कथाओं को परम्परा से हटा कर, शेष का आलोचनात्मक परीक्षण करने की आवश्यकता पड़ती है। ऐतिहासिक सामग्री, जो इस निकाय से प्राप्त की जा सकती है, वह मुख्यतः उपमाओं, कथाओं, प्रत्यक्ष वाक्–विवरणों और वस्तुपरक अन्वेषण के रूप में है। संभवतः मात्र एक अंश प्रत्यक्ष ऐतिहासिक विवरण के रूप में है और वह भी, वास्तव में, बहुत औपचारिक है। यह बहुत दुहरावपूर्ण है और विरोधाभासों से भरपूर है। लेकिन इस सामग्री की अति आकस्मिक प्रकृति इतिहास के एक स्रोत के रूप में इसकी महत्ता को बढ़ाती है।* पिटकों *में अधिकांश उपदेश और वचन न केवल बुद्धवचन के रूप में दिए गए हैं, बल्कि पूर्णतः परिस्थितिजन्य रूप से जहाँ और जिन अवसरों पर गौतम बुद्ध ने उन्हें कहा था, से जुड़े हैं। लेकिन, वास्तव में, यह ज्ञात करना बहुत कठिन है कि इसमें से कितनों के लिए स्वयं बुद्ध को श्रेय दिया जाना चाहिए। इन ग्रन्थों में समाहित उपदेशों, वचनों और पदों में से कुछ उनके मुख्य शिष्यों द्वारा रचे गए होंगे। लेकिन, क्योंकि यहाँ हमारा सम्बन्ध पालि* विनय *और* सुत्त पिटक *के कालानुक्रमिक स्थापन से है, किसने क्या लिखा, वास्तव में, वर्तमान सन्दर्भ में यह विचार–वस्तु नहीं है।*

परम्परागत रूप से, पालि *त्रिपिटक* ***की रचना प्रथम दो संगीतियों से जुड़ी हुई है, प्रथम राजगृह में (महापरिनिर्वाण के तुरंत बाद)*** और द्वितीय वैशाली में। त्रिपिटक को प्रथम सदी ई॰पू॰ में श्रीलंका में राजा वट्टगामणि अभय (***29–17 ई॰पू॰) के शासनकाल के दौरान लिखित रूप दिया गया था।***[180] ***यद्यपि एक बार*** *त्रिपिटक* ***के लिखे जाने के बाद, अन्तर्वेशन की संभावना अवश्य कम हो गई, तथापि शताब्दियों पुरानी लेखकीय परम्परा के दौरान अल्प संशोधन के लिए कुछ जगह अवश्य रही होगी।***[181] *त्रिपिटक* ***के समान एक विशाल संग्रह से पूर्व अवश्य ही महत्त्वपूर्ण साहित्यिक गतिविधियाँ हुई होंगी और इसके अवयवी अंश अवश्य ही इस गतिविधि के विभिन्न भागों से जुड़े होने चाहिएँ, जैसा कि*** *त्रिपिटक* ***में तकनीक के परिवर्तन से प्रदर्शित होता है। लेकिन पालि*** *त्रिपिटक* ***और अन्य प्रारंभिक मतों के धर्मग्रंथ–संग्रहों की आपसी समानता इस ओर संकेत करती है कि पालि साहित्य का उद्भव काफी पहले और धर्म के विभिन्न सांप्रदायिक विभागों में बँटने से पूर्व हुआ।***

कुछ विद्वानों ने प्रथम संगीति की ऐतिहासिकता पर संदेह व्यक्त किया है, क्योंकि, प्रथमतः, *महापरिनिब्बान सुत्तंत* ***उद्देश्य तो प्रदान करता है लेकिन संगीति के सत्र के संबंध में एक शब्द भी नहीं कहता***[182] ***और द्वितीयतः,*** *चुल्लवग्ग-XI,XII*

---

[180]DPPN.II.818.

[181]K.R. Norman, *A History of Indian Literature*, Vol VII, Fasc 2, Wiesbaden: Otto Harrassowitz, 1983: 6.

[182]H. Oldenberg, *Op. Cit*, 1979: xxxi; 1898: 613-32.

परम्परा के एकमात्र स्वतंत्र स्रोत थे और संगीति का विवरण देने में *महापरिनिब्बान सुत्तन्त* ***पर आधारित थे। यह स्पष्टरूपेण असंभव है कि किसी भी स्थिति में*** *विनय* ***और*** *सुत्त पिटक* ***के आकार के विशाल निकाय का प्रथम संगीति में पूर्णतः प्रपठन किया जा सका होगा,[183] यद्यपि*** *त्रिपिटक* ***की रचना की दिशा में एक प्रकार की शुरुआत की जा चुकी थी। अतएव प्रथम संगीति यदि किसी रूप में हुई भी तब भी यह किसी बड़ी महत्ता वाली प्रतीत नहीं होती है। द्वितीय संगीति की ऐतिहासिकता अधिक विश्वसनीय है। यह न केवल दस उच्छृङ्खलताओं*** *(दसवत्थूनि)* ***को दूर करने बल्कि आठ महीने के एक सत्र के दौरान मत का पुनरावलोकन करने हेतु भी सम्पन्न हुई प्रतीत होती है।[184]*** *चुल्लवग्ग-XII* ***में दिए गए विवरण पर दृष्टिपात करने से एकदम विश्वास हो जाता है कि यदि बुद्ध के पश्चात् प्रथम सदी ने*** *त्रिपिटक* ***की रचना न भी देखी हो, तब भी ऐसे ग्रंथ हेतु कम–से–कम एक मूल संचय अवश्य निर्मित हो गया था।[185]***

दीपवंस ***में कहा गया है कि राजा अशोक के काल में तृतीय संगीति के अवसर पर एक वास्तविक*** *त्रिपिटक* ***संकलित***

---

[183] H. Kern, *Manual of Indian Buddhism*, Strassburg: Grundriß der indo-arischen Philologie und Altertumskunde, III, Band 8 Heft:1896: 103; G.C. Pande, *Studies in the Origins of Buddhism*, Allahabad: University of Allahabad: 1957: 10.

[184] *दीपवंस*.V; *महावंस* .IV.

[185] M. Winternitz, *A History of Indian Literature*, tr. S. Ketkar & H. Kuhn, vol.2, Calcutta: University of Calcutta:1933 (reprint, Delhi: Motilal Banarsidass: 1990): 5.

किया गया था।[186] इस समय तक बौद्ध धर्म में कई संप्रदाय हो गए थे क्योंकि अशोक स्वयं अपनी एक राजघोषणा में चेतावनी देता है कि विधर्मी भिक्षु और भिक्षुणियाँ बहिष्कृत कर दिए जाएँगे।[187] परिणामस्वरूप, उसके लिए यह एकदम स्वाभाविक था कि वह सही बुद्धबचन स्थापित करने में एक सक्रिय अभिरुचि लेते, लेकिन अशोक के शिलालेखों में तृतीय संगीति की कोई चर्चा नहीं की गई है, यद्यपि वस्तुतः ऐसा कोई विशेष कारण नहीं है कि उसे ऐसा करना चाहिए था। भाब्रू–बैराट राजघोषणा (जो कलकत्ता–बैराट शिला अभिलेख के नाम से भी सुख्यात है) भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा सात ग्रंथों के पाठन की अनुशंसा करता है और इन ग्रंथों की पहचान की जा चुकी है (यद्यपि पूर्ण आश्वासन के साथ नहीं)। अभिलेखों से प्राप्त प्रमाण को इस आधार पर एक तरफ किया जा सकता है कि वे स्फूटरूपेण यह नहीं कहते हैं जिन सुत्तंतों, निकायों *और पद्यों की बात वे करते हैं अब वही हमारे पास हैं। इस प्रकार के तर्क का अनुसरण करने वाले कुछ विद्वान अब यह भी मानते हैं कि* पिटक *किसी भी प्रकार भारतीय ग्रंथ नहीं है और श्रीलंकाई छद्म साहित्य हैं। इन संदेहों का उत्तर रायस डेविड्ज़[188] द्वारा दिया गया है कि यद्यपि एक स्वस्थ और युक्तिपूर्ण संशय ऐतिहासिक आलोचना के लिए एक मूल्यवान अनुदान है, लेकिन यह वैसे संशय के*

---

[186] *दीपवंस*.VII.39f, 57ff.

[187] E. Hultzsch, *Inscriptions of Aśoka*, Oxford: Clarendon Press, 1925: xliii fn.

[188] DB.I.xvii-xviii.

संबंध में नहीं कहा जा सकता है जो उन विश्वासों को अस्वीकृत करता है, जिसकी तुलना में बहुत अधिक अविश्वसनीय विश्वासों को स्वीकृत करता है। एक साँस में हमें विद्वतापूर्ण मूढ़ता, सांप्रदायिक संकीर्णता, साहित्यिक अयोग्यता, यहाँ तक कि श्रीलंकाई बौद्धों की जराजीर्णता का भी स्मरण कराया जाता है और अगले में हमें ऐसी प्रज्ञप्ति को स्वीकार करने को कहा जाता है जिसके अनुसार वही बौद्ध विस्तृत दस्तावेज़ों की जालसाजी ऐसी ऐतिहासिक शुद्धता के साथ और अपने मध्य वर्तमान विचारों और प्राचीन दृष्टिकोणों के बीच ऐसे नाजुक विभेद के साथ करने में इतने सक्षम थे कि वे अपने समसामयिकों और विरोधियों को आसानी से मूर्ख़ बना गए। एक ऐसे संशय को ग्रहण करने में, जो ऐसे अनूठे, और इसलिए ऐसे अविश्वसनीय निष्पादन में विश्वास व्यक्त करता है, झिझकना अयुक्तिपूर्ण नहीं है। यह कहा जा सकता है कि अशोक का युग विनय पिटक, दीघ निकाय, अंगुत्तर निकाय, सुत्त–निपात ***और*** मज्झिम निकाय ***के कुछ भागों से परिचित था।***[189] ***जैसा भी हो, प्रयोग किए गए विभिन्न पारिभाषिक शब्द*** पिटक ***या*** पिटकों ***के रूप में जाने वाले बौद्ध साहित्य के अस्तित्व के निर्णायक प्रमाण हैं।***[190] ***अशोक द्वारा उसकी राजघोषणा के माध्यम से उपासकों के कर्त्तव्यों पर डाला गया बल,*** निकायों ***की योजना के दायरे में ही आता है। भरहुत अभिलेख में*** पेटकिन् ***(पिटक/पिटकों का ज्ञाता) शब्द का***

---

[189]M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 606-609; Oldenberg & Rhys Davids 1881: xxvif.

[190]T.W. Rhys Davids.DB.I.xiii.

होना दर्शाता है कि पिटक *शब्द जन उपयोग का अंग होने हेतु पर्याप्तरूपेण लोकप्रिय हो गया था।*[191] *अतएव, यह प्रतीत होता है कि मौर्य काल की समाप्ति से पूर्व,* त्रिपिटक *के रूप में कुछ–न–कुछ अस्तित्व में था, जो बुद्ध द्वारा उच्चारित माना जाता था और जो अगर पालि* त्रिपिटक *से पूर्णतः समान नहीं था तो उससे बहुत निकटता से अवश्य मिलता–जुलता होगा।*[192]

अब हम व्यक्तिगत ग्रंथों को ले सकते हैं।

विनय पिटक

विनय पिटक *में दो बौद्ध संगीतियों के संयोजन से संबंधित अध्यायों*[193] *को सामान्यतः प्रारंभिक ग्रंथों में पश्चात्वर्ती संकलन् माना गया है। जैसाकि हमने पहले कहा,* चुल्लवग्ग-XI *में संगीति का प्रतिवेदन हमसे बहुत अधिक विश्वास करने की आशा रखता है और यह तथ्य इसके प्राचीनतम रूप में जैसाकि यह स्वयं* त्रिपिटक *में हमारे सामने आया है, विश्वसनीयता के विपरीत जाता है, क्योंकि यह बिल्कुल असंभव है कि* विनय *और* सुत्त पिटक, *गौतम बुद्ध की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् अनिवार्यतः ऐसे हों जैसा कि हम अब* त्रिपिटक *में पाते हैं। वस्तुतः यह संभव हो सकता है कि बौद्ध धर्म के गुरुजन महापरिनिर्वाण के तुरंत पश्चात् मत के मुख्य सिद्धान्तों और संघ के अनुशासन पर सहमति व्यक्त करने के*

---

[191] देखें, K.R. Norman, *Op. Cit*, 1983: 16f.

[192] M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 18, 608.

[193] CV.xi-xii.

लिए जमा हुए होंगे और इसलिए यद्यपि हम परम्परा को पूर्णतः आधारहीन मानने में न्यायोचित नहीं हो सकते, यह विचाराधीन प्रकार के *त्रिपिटक* ***के संकलन के लिए अत्यधिक कम कालावधि थी। इसके अतिरिक्त,*** *चुल्लवग्ग-XI*, *चुल्लवग्ग* ***के अन्य किसी अध्याय की तुलना में अचानक शुरु होता है। यह*** *महापरिनिब्बान सुत्तन्त* ***की तरह प्रारम्भ होता है और अन्तर्विषय में बहुत निकटता से इससे संबद्ध है। यह असंभव नहीं है कि मूलतः*** *चुल्लवग्ग-XI, दीघ निकाय* ***का एक भाग हो***[194] ***और या फिर*** *चुल्लवग्ग-XI,XII* ***और*** *महापरिनिब्बान सुत्तन्त* ***एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में अलग से विद्यमान हों।*** *खंधकों* ***में विषयवस्तु–आधारित क्रम में कहानियों को उपयुक्त*** *खंधकों* ***में सम्मिलित किए जाने के कारण वे अलग हो गईं और इसलिए*** *खंधक* ***कार्य के लेखक के पास वैसा पुराना विवरण उपलब्ध था, जैसे कि बुद्ध ने अपने प्रथम अनुयायियों को मूलभूत निर्देश दिया।***[195] ***लेकिन 20*** *खंधकों* ***के संकलन की तिथि (ऊपर के दो को छोड़कर) मौर्य–पूर्व काल की है और अन्य दो द्वितीय संगीति के बहुत बाद रचित नहीं लगते, क्योंकि यदि*** *खंधकों* ***का संकलन उसके बाद हुआ रहता तो यहाँ बाद की संगीतियों का विवरण भी सम्मिलित किया गया होता,***

---

[194] G.C. Pande, *Op. Cit*, 1957: 10.

[195] E. Frauwallner, *Op. Cit*, 1956: 135; K.R. Norman, *Op. Cit*, 1983: 23.

विशेषकर उस संगीति का जो अशोक के शासनकाल के दौरान हुई थी।[196]

विनय–*लेखनी,* परिवार, *श्रीलंका में रचित हुई थी क्योंकि इसमें चर्चा है कि यह* मिलिन्दपx्हो *के बाद लिखी गई और काल की दृष्टि से* विनय *के अन्य भागों की अपेक्षा पश्चात्वर्ती है। जी॰पी॰ मललसेकर अनुभव करते हैं कि* परिवारपाठ *के कुछ अध्याय* विनय *से प्राचीनतर हैं।*[197] *लेकिन सच्चाई इसके विपरीत प्रतीत होती है क्योंकि* दीपवंस *में कहा गया है कि* महासांघिक *उसे अपने ग्रंथों में से एक नहीं मानते और यह तथ्य इसकी प्राचीनतर ऐतिहासिकता पर संदेह उत्पन्न करता है। अतएव सभी ऐतिहासिक उद्देश्यों के लिए,* परिवारपाठ *प्रथम सदी ईसा पूर्व का है जब इसे अवश्य ही वट्टगामणि के काल में* तिपिटक *में डाला गया होगा।*

भिक्खुविभंग ***और*** भिक्खुनीविभंग ***वाले*** सुत्त विभंग ***की रचना अवश्य मौर्य–पूर्व काल में हुई होगी क्योंकि इसमें दिए गए सभी ऐतिहासिक संदर्भ*** महापरिनिब्बान ***से बहुत बाद के काल के नहीं हैं।***

कैरोलाइन रायस डेविड्ज़ के विचार में, पातिमोक्ख ***अधिक नवीन उद्भव का है और वह परिकल्पना करती हैं कि जब*** त्रिपिटक ***की मुख्य काया का संग्रह किया गया, उस काल में यह या तो वर्तमान नहीं था या इतनी नवीन तिथि का था कि इसे पावन लेखनियों में शामिल नहीं किया जा सकता***

---

[196]B.C. Law, *A History of Pāli Literature*, 2 vols, London: Kegan Paul Trench, Trübner & Co. Ltd, 1933: 15.

[197]DPPN.II.162.

था।[198] *लेकिन ओल्डनबर्ग के अनुसार* पातिमोक्ख *बौद्ध* विनय *का प्राचीनतम साहित्यिक विवरण है क्योंकि उसके विचार में संपूर्ण* विभंग *कुछ नहीं बल्कि* पातिमोक्ख *का एक विस्तृत पान है।*[199] *यद्यपि यह एकदम असंभव प्रतीत होता है कि नियमों का पूर्ण समुच्चय एक समय निर्मित हुआ था और इनमें से कुछ नियम बिना सन्देह तब बने जब आवश्यकता प्रकट हुई होगी,*[200] *तथापि हम निश्चय के साथ कह सकते हैं कि प्रारम्भिक* पातिमोक्ख *नियमावली (अर्थात् 152 नियम)* सुत्तविभंग *से प्राचीनतर हैं क्योंकि* सुत्तविभंग *75* सेखिय *नियमों हेतु मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार* पातिमोक्ख *को पूरे 227 नियमों से युक्त पहचाना जाता है, जो* पातिमोक्ख *नियमों के संहिताकरण के मात्र द्वितीय या अंतिम चरण में संभव हुआ होगा।*

सुत्त पिटक

बुद्ध की मृत्यु के बाद, उनके शिष्यों ने उनके उपदेशों को प्रथम चार निकायों *में एक साथ संग्रहित किया। इन चार* निकायों ने *बुद्धसे आधी शताब्दी पश्चात् तक भी अपना अन्तिम स्वरूप नहीं अपनाया था। अन्य उपदेशों और पद्यों को, जिनमें से अधिकांश स्वयं बुद्ध से नहीं बल्कि उनके शिष्यों से संबद्ध थे, एक अतिरिक्त* निकाय *में रखा गया। अशोक के काल तक इस* निकाय *में कुछ हल्की–फुलकी वृद्धियाँ की गईं। और कुछ*

---

[198]C.A.F. Rhys Davids, *Outlines of Buddhism: A Historical Sketch*, 1st Indian print, Delhi, 1978: 6.

[199]H. Oldenberg, *Op. Cit*, 1879: xvi-xx.

[200]K.R. Norman, *Op. Cit*, 1983: 20.

छोटे ग्रंथों– विशेषकर** बुद्धवंस, चरियापिटक, पेतवत्थु **और** विमानवत्थु **में विकसित पाए गए सिद्धान्त दर्शाते हैं कि वे प्रथम चार** निकायों **से अधिक युवा हैं। प्रथम चार** निकाय, त्रिपिटक **के प्रारंभिक भाग से संबंधित हैं और भाषा तथा प्रारूप में भी उनमें कोई आवश्यक मतभेद नहीं है, यद्यपि** अंगुत्तर निकाय **अन्य की अपेक्षा बाद का हो सकता है, लेकिन बहुत बाद का नहीं।[201] यह तथ्य कि चार** निकाय **पूर्वोत्तर सम्प्रदायों द्वारा विवादित मुद्दों पर अधिक ध्यान नहीं देते, निश्चितरूपेण सुझाता है कि वे व्यवहारतः द्वितीय संगीति तक पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। रायस डेविड्ज़ के विचार में उत्तर भारत में बहुत पहले** निकाय **ज्ञात थे[202] तथा वे बुद्ध की मृत्यु और अशोक के राज्यारोहण के बीच के काल में प्राचीनतर सामग्री से संग्रहित किए गए थे।[203] ओल्डनबर्ग भी** सुत्तन्त **साहित्य के मुख्य सार की तिथि वैशाली की संगीति से पूर्व रखते हैं।[204] अतएव इस बात पर आम सहमति है कि** निकाय **संभवतः बौद्ध इतिहास के सबसे प्रारंभिक काल को प्रतिबिम्बित करते हैं, संभवतः एकमात्र अपवाद बुद्ध के शारीरिक अवशेषों के पुनर्वितरण से संबंधित** महापरिनिब्बान सुत्तन्त **का अन्तिम भाग प्रतीत होता है। यह अंश मौर्य काल से संबंद्ध है, जैसा कि बी॰सी॰ लॉ ने बुद्धघोष द्वारा इस संदर्भ में की गई बात के

---

[201]M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 69.

[202]DB.I.x.

[203]T.W. Rhys Davids, *Op. Cit*, 1922: 195.

[204]H. Oldenberg, *Op. Cit*, 1889: xxxvii-xxxviii.

आधार पर दिखाया है।[205] खुद्दक निकाय *के* खुद्दकपाठ, धम्मपद, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, निद्देस ***और*** पटिसम्भिदामग्ग ***जैसे ग्रंथों को कालानुक्रम पर विचारविमर्श से बाहर रखा गया है, क्योंकि वे हमारे वर्तमान विषय पर अधिक सूचना नहीं देते हैं।***

उदान ***के कई*** सुत्तों ***की रूपरेखा*** विनय पिटक ***में खोजी जा सकती है, और यद्यपि यह कहना कठिन है कि किसने किससे उधार लिया, यह संभव प्रतीत होता है कि दोनों ग्रंथों ने उस मौखिक सामग्री की महान काया से*** सुत्तों ***को प्रत्यक्षतः उधार लिया जो बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक दिनों में अवश्य रही होगी।***[206] ***अधिकांश छोटे और सुंदर वचन निस्सन्देह काफ़ी पुराने हैं और उनमें से कई संभवतः स्वयं बुद्ध के वास्तविक या उनके सबसे प्रमुख शिष्यों के वचन हैं,***[207] ***तथापि इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि पद्य और गद्य*** उदान ***में दो अलग और विशिष्ट स्तर हैं जिनमें प्रथम बहुत प्राचीन हैं।***[208] ***वास्तव में, ये वृत्तान्त संकलनकर्ता का हस्तकार्य प्रतीत होते हैं।***[209] ***इस प्रकार,*** उदान ***के पद्य मौर्य–पूर्व काल के हैं जबकि गद्य तृतीय सदी ईसा पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं लगते।***

थेरगाथा ***और*** थेरीगाथा ***बाद की तिथि में रचित हुए प्रतीत होते है। तथापि इन ग्रंथों के कुछ गीतों और पद्यों के***

---

[205] B.C. Law, *Op. Cit*, 1933: 3, 30f.

[206] K.R. Norman, *Op. Cit*, 1983: 61.

[207] M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 85.

[208] G.C. Pande, *Op. Cit*, 1957: 71.

[209] M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 85.

चिह्न चार निकायों *में खोजे जा सकते हैं, लेकिन तब भी एक महत्त्वपूर्ण संख्या में ऐसे पद्य हैं जो अवश्य ही परवर्ती उद्भव के होने चाहिएँ,[210] अर्थात् बुद्ध–पूजापद्धति और इन ग्रंथों में विकसित कई प्रकार के चमत्कार परर्ती* महायान *ग्रंथों से पूर्व विकसित हुए नहीं हो सकते थे।[211] आगे अट्ठकथाकार धम्मपाल बताते हैं कि* थेरगाथा *के कुछ पद्य बिन्दुसार के काल के एक थेर द्वारा रचे गए थे और वे तृतीय संगीति में संग्रह में जोड़े गए थे।[212] अतएव, यह प्रतीत होता है कि जहाँ तक उनकी ऐतिहासिक उपयोगिता की बात है, ये दोनों ग्रंथ मौर्य–काल के लिए स्रोतों के रूप में प्रयोग किए जा सकते हैं।*

जातक, *जिसमें ऐतिहासिक आंकड़ों की प्रचुपता है, ने अपनी तिथि से संबंधित ऐसी समस्याएँ उत्पन्न की हैं कि अनेकों विद्वानों ने उन्हें इतिहास के एक स्रोत के रूप में ही अनदेखा कर दिया है। दो नवीन उदाहरण पांडेय[213] और वागले[214] हैं। रायस डेविड्ज़ उन्हें पूर्णतः पंचमेल (*heterogenous*) मानते हैं। विंटरनिट्ज़ भी ऐसा ही अनुभव करते हैं। वे कहते हैं कि ये ग्रंथ एक विस्तृत समयक्षेत्र को*

[210]M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 110; K.R. Norman, *Op. Cit*, 1983: 77.

[211]M. Winternitz, *Op. Cit*, 1933: 110.

[212]Oldenberg and Pischel, *Op. Cit.*,1883: 46 *पर उद्धृत।*

[213]G.C. Pande, *Op. Cit*, 1957: 1-76.

[214]N. Wagle, *Society at the Time of the Buddha*, Bombay: Popular Prakashan, 1966: 13.

*समाहित करते हैं और संभवतः छठी सदी ईसा बाद तक के हैं और उनके अनुसार "*जातकों *की तिथियों के निर्धारण के लिए, न केवल प्रत्येक बड़े खंड और प्रत्येक वृत्तान्त, बल्कि प्रत्येक एकल* गाथा *को स्वतंत्र रूप से जाँचना होगा।"*[215] *लेकिन विंटरनिट्ज़ यह भी मानते हैं कि सामान्यतः पश्चातवर्ती गद्यांशों की तुलना में, जिनका संभवतः बौद्ध भिक्षुओं के हाथों संपादन हुआ,* गाथाओं *को पालि साहित्य के प्राचीनतम स्तर का भाग माना जाता है।*[216] *कोसाम्बी के विचार में, "*जातकों *के लिए सातवाहन काल और राज्यक्षेत्र सर्वाधिक अनुकूल होंगे।"*[217] *लेकिन शर्मा इस दृष्टिकोण की यह कहते हुए आलोचना करते हैं कि* अर्थशास्त्र *में व्यापार संबंधी विनियमन के माध्यम से एक विस्तृत अर्थव्यवस्था की कल्पना की गई है और* भूत की कथाएँ, *जिनमें परिदृश्य मध्य या पश्चिमी भारत के हैं, अशोक पूर्व काल की हैं, जबकि* वर्तमान की कथाएँ, *जो पूर्वी भारत के नगरों यथा राजगृह और श्रावस्ती में घटित होती हैं, कालानुक्रम में बाद की हैं।*[218] *मेहता कुछ पद्यों और गद्य–वृत्तांतों को बौद्ध पूर्वकालीन पाते*

---

[215]M. Winternitz, *Op. Cit*: 1933: 122, 156.

[216]*वही*.119-125.

[217]D.D. Kosambi, *An Introduction to the Study of Indian History*, Bombay: Popular Prakashan, 1956: 259.

[218]R.S. Sharma, *Op. Cit.*, 1958: 85.

हैं और वह, वास्तव में, जातकों का बुद्ध पूर्व–भारत पर परिचर्चा हेतु बहुत उदारतापूर्वक उपयोग करते हैं।[219]

यह ध्यान देने योग्य बात है कि फौसबॉल (V. Fausböll) द्वारा सम्पादित जातक ग्रंथ मूल नहीं हैं, बल्कि वास्तव में, यह जातक पर एक अट्ठकथा है। जातकों में मूलतः मात्र गाथाएँ थीं, क्योंकि उनकी भाषा अधिक प्राचीन है और वे गद्य की तुलना में परिवर्तन की ओर कम उन्मुख थीं और इसलिए उनका त्रिपिटक से संबंधित होने का दावा अधिक मजबूत है।[220] इसके अतिरिक्त, भूत की कथाओं और वर्तमान की कथाओं के मध्य विभेद का कोई कालानुक्रमिक महत्त्व नहीं है क्योंकि दोनों एकही टिप्पणीकार के कार्य हैं और पदों के विशाल निकाय हेतु शुद्ध अंतःकरण से, तृतीय सदी ईसा पूर्व से प्राचीनतर काल इंगित नहीं किया जा सकता, और निश्चित रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता, और अधिकांश गद्य ईसा के बाद के काल से संबंधित हैं।[221]

कुछ जातक एक या दूसरे रूप में अन्य तिपिटकीय ग्रंथों में प्रस्तुत होते हैं। चरियापिटक में 35 जातक हैं, यद्यपि सभी फौसबॉल के संस्करण में नहीं पाए जाते हैं। कुछ जातकों के चिह्न विनय पिटक और निकायों में ढूँढ़े जा सकते हैं। एच॰ कर्न और बी॰ एम॰ बरुआ ने दर्शाया है कि भरहुत और साँची शिल्प सिद्ध करते हैं कि उनके निर्माण काल

---

[219]R.L. Mehta, *Pre-Buddhist India*, Bombay: Indian Historical Research Institute, 1939: xxi ff.

[220]M. Winternitz 1933: 119; E. Cowell, *Op. Cit.*,1895: xiii.

[221]M. Winternitz 1933: 119-122.

(अथवा लगभग 100 ई॰पू॰ और ईसा के मध्य) में जातक *बौद्ध लोक परम्परा के एक अभिन्न अंग के रूप में जाने जाते थे।*[222] *यह प्रतीत होता है कि* गाथाएँ *यदि मौर्य पूर्वकालीन नहीं हैं तो अवश्य अशोकपूर्व काल की हैं, गद्य अंश तो और भी बहुत बाद के हैं। यद्यपि कुछ परिच्छेदों में प्रारम्भिक तत्त्व मिश्रित है, लेकिन वे अपनी वर्तमान स्थिति में केवल कुषाण और सातवाहन कालों के लिए ही किसी महत्त्व के प्रतीत होते हैं।*

अपदान *यद्यपि कम उपयोगी है, परन्तु* जातकों *के समान है। चूँकि* अपदान *थेरों और थेरियों के भूत और वर्तमान जीवनों को जोड़ता है, यह* जातक *का एक परिशिष्ट प्रतीत होता है। यह अनिवार्यतः यदि पालि* त्रिपिटक *नहीं, तो कम से कम* खुद्दक निकाय *के अति नवीनतम ग्रंथों में से एक है, क्योंकि यह हर प्रकार पालि* त्रिपिटक *के शेष ग्रंथों की अपेक्षा संस्कृत* अवदान *के अत्यधिक निकट है*[223] *यद्यपि ई॰ मूलर (*E. Muller*) और एस॰ लेवी (*S. Levi*) ने इस के कुछ अंशों को संस्कृत* अवदान *से भी बाद का पाया।*[224]

बुद्धवंस *24 बुद्धों की बात करता है जबकि प्रारम्भिक ग्रंथ उनमें से मात्र 6 को जानते हैं। अतएव यह* त्रिपिटकीय *साहित्य के नवीनतम उत्पादों में वर्गीकृत किया जा सकता*

---

[222] H. Kern, *Op. Cit.*, 1896: 2; B.M. Barua, “Identification of Four *Jātakas* at Bharhut,” *JASB*, New Series, 1923: 349-356.

[223] M. Winternitz 1933: 159-169.

[224] *वही*. fn 2.

है।[225] इसके अतिरिक्त यह ग्रंथ बुद्ध–पूजन और बुद्ध–दैवीकरण से भरा हुआ है, जो पुनः पालि त्रिपिटक के अन्य ग्रंथों में अज्ञात है और महायान संस्कृत साहित्य से अधिक सजातीयता प्रदर्शित करता है।

चरियापिटक पद्य रूप में 35 जातकों का एक संग्रह है। तथापि जातक पदों के साथ तुलना करने पर, चरियापिटक के पद्य मध्यमश्रेणीय हैं और जातकों में अप्राप्य भावनात्मक और परा–प्राकृतिक तत्वों का परिचय कराते हैं। वास्तव में, चरियापिटक बुद्धवंस के शेषपूरक का कार्य करता है।[226] पारमिता का सिद्धान्त, जो बौद्ध उपासना–विधि के उत्तरवर्त्ती चरण से सम्बन्ध रखता है, और इस ग्रंथ के प्रस्तुतीकरण का स्वरूप, दर्शाते हैं कि चरियापिटक एक बहुत बाद का ग्रन्थ है।[227]

उपर्युक्त उनुशीलन के आधार पर ग्रन्थों को तीन मुख्य कालानुक्रमिक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। लेकिन एक बार पुनः इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि शायद ही कोई पालि–ग्रंथ एकिक उत्पादन होगा और सभी ग्रंथ विभिन्न तिथियों की सामग्रियों से बने हैं। इसलिए निम्नलिखित वर्गीकरण न तो जल–निरुद्ध (water-tight) है और न ही अंतिम। एकमात्र तथ्य जो हम निश्चितरूपेण कह

---

[225]M. Winternitz 1933: 162; K.R. Norman, *Op. Cit.*, 1983: 93f.

[226]K.R. Norman, *Op. Cit.*,1983: 95.

[227]M. Winternitz 1933: 164; K.R. Norman, *Op. Cit.*,1983: 95.

सकते हैं, वह यह है कि ये ग्रंथ बुद्ध के दिनों से लेकर सातवाहन काल तक के कालानुक्रमिक समय–विस्तार को समाहित करते हैं और यह गंगा नगरीकरण के प्रारंभिक कालों के पल्लवन से संगति रखता है। फिर भी कुछ पद्य या गद्य अंश हमारे विभाजन से बाहर रह सकते हैं। लेकिन जब भी ऐसा कोई गद्य या पद्य अंश प्रयुक्त किया गया, जो नीचे दिए गए विभाजन के अन्तर्गत नहीं आता, उस भाग की तिथि का निर्धारण हम अलग से करेंगे।

अधिकांश मौर्यपूर्व कालीन ग्रंथ	अधिकांशतः मौर्यकालीन ग्रंथ	अधिकांशतःमौर्योत्तर कालीन ग्रंथ
विनय पिटक (चुल्लवग्ग–xi, xii, *सेखिय नियमों व परिवारपाठ को छोड़कर)*	*चुल्लवग्ग*–xi, xii, *सेखिय नियम*	*परिवारपाठ*
दीघ निकाय		
मज्झिम निकाय		
अंगुत्तर निकाय	*उदान (मात्र गद्य)*	
उदान (केवल पद्य)	*थेरगाथा*	
	थेरीगाथा	
	जातक (अधिकतर पद्य)	*जातक (मात्र गद्य)*
		अपदान
		बुद्धवंस
		चरियापिटक

2

बौद्ध धर्म का उद्भव

बुद्ध की तिथि–निर्धारण के समान, बौद्ध धर्म के उद्भव ने भी कई तरह के विवादों को उत्पन्न किया है। नगरीय संस्कृति का उद्भव एवं विकास बुद्ध के जन्म के समय तक हो चुका था। ऐसी संस्कृति का प्रभाव एक साथ कष्टकारक एवं उद्धार करने वाला (agonizing and emancipating) दोनों तरह का था। प्राचीन सामाजिक–धार्मिक व्यवस्था, जिसके सिद्धांतों की नींव ब्राह्मण परम्परा के कर्मकाण्डों पर आधारित थी, वैदिक सभ्यता के पूर्वी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व बनाए रखने में असफल रही थी। इसके अलावा, नगरीकरण की नई सामाजिक व्यवस्था ने इस वैचारिक शून्यता (ideological vacuum) को और भी बढ़ा दिया था। इसके परिणामस्वरूप, एक पूर्णतः नए एवं विस्तृत धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन (religio-philosophical speculation) का जन्म हुआ। इस प्रकार की असामान्य परिस्थितियों की विवशताओं ने न केवल इनके नए विश्लेषण खोजे बल्कि नए सामाजिक नियमों (ethos) के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार की। परिणामतः व्रतदीक्षिक अन्वेषकों (professional seekers) का एक विशेष वर्ग बड़ी तेजी से पनपने लगा, जिसने नए प्रश्नों एवं उनके संभावित उत्तरों पर ध्यान केन्द्रित कर, नई सामाजिक व्यवस्था को ढाँचा प्रदान करने का प्रयास किया।

प्रारम्भ में कुछ विद्वानों की मान्यता थी कि बौद्ध धर्म विभिन्न प्रकार की प्राक्–बौद्ध काल में उत्पन्न परिस्थितियों के विकास (जैसे– याज्ञिक कर्मकाण्डों द्वारा जीव हिंसा, अन्धविश्वास तथा बौद्धिक गतिरोध का उत्पन्न होना, लिंग एवं जाति आधारित असमानता आदि) के विरुद्ध एक आन्दोलन मात्र था। एस॰ राधाकृष्णन[1] तथा डी॰आर॰

---

[1]S. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, vol.1, London: Library of Philosophy, 1923: 352.

भण्डारकर[2] जैसे विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि बौद्ध धर्म एक ऐसी नैतिक व्यवस्था थी, जो वैदिक धर्म में उत्पन्न कुरीतियों को दूर करने का प्रयास कर रही थी।[3] राधाकृष्णन तथा भण्डारकर के विचारों में त्रुटि यह थी कि उन्होंने बौद्ध धर्म के आर्थिक तथा सामाजिक आयामों को अनदेखा कर इसे पूर्णतः वैचारिक आन्दोलन के रूप में देखा।[4] जी॰सी॰ पाण्डे[5] तथा जी॰एस॰पी॰ मिश्रा[6] ने बौद्ध धर्म के उ˜व को वैदिकेतर तथा प्राक्–वैदिक श्रमण परम्परा के पुनरुत्थान के रूप में देखा है, जो ब्राह्मण धर्म से परे विरक्ति पर आधारित था।[7] उनके विचार में यह परम्परा, जिसने संसारनिरोध तथा संसारमुक्ति पर जोर दिया, ऋग्वैदिक काल में कार्यशील परम्परा द्वारा दबा दी गई थी। लेकिन श्रमण परम्परा ने स्वयं को पुनर्प्रतिष्ठित किया तथा इसे दुःखी मानवता द्वारा, पाण्डे के अनुसार, तब स्वीकार किया गया जब कार्य

---

[2] ***इस संदर्भ को*** G.B. Upreti, *The Early Buddhist World Outlook in Historical Perspective*, Delhi: Manohar, 1997: 25 ***से लिया गया है।***

[3] Buddhism was an ethical system that was endeavoring to cleanse the Vedic religion of its aberrations.

[4] They viewed Buddhism purely as an ideological protest movement without any economic or social ramifications.

[5] G.C. Pande, *Studies in the Origins of Buddhism*, Allahabad: University of Allahabad, 1957: 251-332;"On the Question of the Social Origins of Buddhism,"Mahesh Tiwary (ed), *Bodhi-Raśmi*, New Delhi: Motilal Banarsidass, 1984: 5-8; *□ramaṇa Tradition: Its History and Contribution to Indian Culture*, Allahabad, 1978.

[6] G.S.P. Mishra, *The Age of Vinaya*, New Delhi, 1972; *Development of Buddhist Ethics*, New Delhi, 1984.

[7] The resurrection of the non-and-pre-Āryan *śramaṇic* tradition, which unlike Brāhmaṇism was based on detachment.

तथा पूजा, धन तथा कल्याण, मनुष्य तथा प्रकृति की वैदिक समता कर्कषतापूर्वक तोड़ दी गई।[8] बौद्ध धर्म सबसे अधिक सफल हुआ क्योंकि यह प्राक्–वैदिक तथा वैदिकेतर श्रमण परम्परा की अत्यधिक व्यवस्थित तथा सुस्पष्ट अभिव्यक्ति था। हालाँकि यह नकारा नहीं जा सकता कि बौद्ध धर्म ने बहुत सी प्राक्–बौद्धकालीन संकल्पनाओं को ग्रहण करने के साथ–साथ उनमें संशोधन किया परन्तु इस परिकल्पना की कमी यह है कि इसमें बौद्ध धर्म की मौलिकता तथा पूर्णता (originality and wholeness) की ओर ध्यान नहीं दिया गया। जी॰एस॰ घुर्ये[9] तथा एन॰ दत्त[10] जैसे सामाजिक वैज्ञानिकों ने सुझाव दिया कि बौद्ध धर्म तथा इसके समसामयिक मत ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों द्वारा सामाजिक वर्चस्व हेतु चलाए गए संघर्ष का परिणाम थे।[11] उनके अनुसार क्षत्रियों ने अपने महत्त्व का दावा उस समय करना शुरू किया जब ब्राह्मण याज्ञिक कर्मकाण्डों पर अपने एकमात्र प्रभुत्व द्वारा क्षत्रियों सहित समाज के अन्य वर्णों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर चुके थे। क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के इस मिथ्याभिमान पर प्रहार करने के उद्देश्य से आम जनसमूह, विशेषकर समाज के विकासोन्मुख सम्पन्न वर्गों जैसे प्रभावशाली व्यापारियों, की सहायता चाही। यद्यपि यह नहीं नकारा जा सकता कि क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के इस मिथ्याभिमान पर रोष प्रगट किया, परन्तु ऐसे रोष को ही बौद्ध धर्म जैसे आन्दोलनों के उद्भव की पर्याप्त व्याख्या नहीं माना जा

---

[8]The Vedic equation of work and worship, wealth and welfare, man and nature was rudely broken (G.C. Pande, *Op. Cit.* (1984): 62.)

[9] G.S. Ghurye, *Caste and Race in India*, London, 1932: 67.

[10]N.Dutt, *Origin and Growth of Caste in India* vol. 1, Calcutta, 1968.

[11]This resulted from the struggle for social hegemony waged by the khattiyas against the brāhmaṇas.

सकता।[12] यह सत्य है कि बुद्ध न केवल क्षत्रिय कुल में पैदा हुए थे बल्कि तत्कालीन राजाओं ने भी बौद्ध धर्म को सहायता प्रदान की थी और बौद्ध धर्म द्वारा सामाजिक वर्ण–व्यवस्था में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊँचा स्थान दिया गया है। इन दो अनुत्पादक वर्गों (non-producing classes) में कुछ वैमनस्य, जो स्वाभाविक था, अवष्य रहा होगा परन्तु इसे अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अस्तु टी॰ डब्लयू॰ रायस् डेविड्स[13] की ऐसी धारणा है कि ऋग्वैदिक काल के जड़ात्मवाद (animism) ने, जो आत्मन् अर्थात् व्यक्तिवाद की पद्धति (cult of *ātman* or individuality) के रूप में विकसित हुआ, ऐसी हर वस्तु पर प्रहार किया जो सामाजिक रूप से कल्याणकारी (socially healthy) थी। इसके विपरीत, बौद्ध धर्म ने इस प्रक्रिया को उलटने के लिए इस पर प्रहार किया।[14] ए॰एन॰ बोस का सुझाव है कि बौद्ध धर्म प्रोटेस्टेंट धर्म के समान व्यापारियों तथा राजाओं की उभरती धनाढ्यता का तपोत्पादन था।[15] इसी प्रकार, रिचर्ड फिक्क अनुभव करते हैं कि बहुत से राजाओं का नशापान, क्रूरता, दुश्चरित्रता, विश्वासघात, अधार्मिकता आदि तथा पुरोहितों द्वारा राजाओं को अपनी मनमानी करने में सहयोग देने की तत्परता के

---

[12]Though it cannot be denied that the khattiyas resented the brāhmaṇical pretensions, but such a resentment is not a sufficient explanation for the rise of movements like Buddhism.

[13]T.W. Rhys Davids, *The History and Literature of Buddhism*, Varanasi, reprint, 1975: 26.

[14]As against this, Buddhism attacked this process in order to reverse it.

[15]Buddhism was byproduct of the rising fortunes of the merchants and the monarchs. (A.N. Bose, *The Social and Rural Economy of North-East India*, vol. 2, Calcutta, 1945: 266-67).

कारण जनसाधारण की परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो गई होंगी।[16] राहुल सांकृत्यायन ***का सुझाव है*** कि बुद्ध ने समसामयिक सामाजिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर सौदागरों, राजाओं तथा सूदखोरों के वर्गों के लिए अनुकूल नियम बना कर उन्हें पुरस्कृत किया।[17] डी॰डी॰ कोसाम्बी ने कहा कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों ने समाज को विभिन्न स्तरों पर अव्यवस्थित कर दिया था और विकास की विभिन्न अवस्थाओं में ये भिन्न सामाजिक समूह एक साथ उपस्थित थे।[18] उनके विचार में यद्यपि लोहे का प्रयोग उत्तर वैदिक काल में प्रारम्भ हुआ, फिर भी बलि प्रथा के प्रचलन के परिणामस्वरूप आर्थिक संसाधनों पर काफी दबाव पड़ा (over-strained) और इसने, बदले में, समाज के दो उच्च वर्गों के हितों को उत्पादक वर्ग के विरुद्ध प्रोत्साहित किया। परिणामतः उत्पादक वर्ग ऐसे नए सामाजिक दर्शन की तलाश कर रहा था जो संस्कृति के निर्विघ्न विकास को सुनिश्चित कर सके। मध्य गंगा घाटी में ब्राह्मणीय धारणाओं एवं संस्थाओं के आगमन के कारण उत्पादक वर्ग ब्राह्मणीय सदाषयता को ग्रहण कर सकता था।[19]

---

[16]R. Fick, *Social Organization in North-East India in Buddha's Time*, tr. S.K. Mitra, Calcutta: University of Calcutta, 1920: 101-02.

[17]The Buddha, being influenced by the contemporary social trends, rewarded the merchants, monarchs and usurers by laying down rules which favoured their class interest.(R. Sankrityayana *et al*, *Buddhism: The Marxist Approach*, N. Delhi: People's Publishing House, 1978.)

[18]D.D. Kosambi, *An Introduction to the Study of Indian History*, Bombay: Popular Prakashan, 1956: 40.

[19]In his opinion, though iron came into use during the post-Vedic period, yet the economic resources were over-strained as a result of the sacrificial cult which, in turn, promoted the interests of

देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय[20] ने कोसाम्बी के मत को रूपान्तरित करते हुए इस अवधारणा को प्रस्तुत किया कि चूँकि ब्राह्मणवाद के कर्मकाण्डयुक्त स्वभाव की तुलना में उत्तर वैदिक काल में धार्मिक आन्दोलनों का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत था, अतः वे इससे संतुष्ट नहीं थे। उनके विचार में जनजातीय संस्थाओं ने अन्दर से ही विघटित होना प्रारम्भ कर दिया था।[21] विजय एवं विस्तार की उग्र वृद्धि में प्रारम्भिक राजतन्त्रीय राज्य व्यवस्थित रूप से बची स्वतंत्र जनजातियों के अस्तित्व को मिटा रहे थे; और जिन क्षेत्रों पर उनका सीधा प्रभुत्व था, वहाँ "नीच लोभ, निर्मम व्यभिचार, घृणित धनलोलुपता, सार्वजनिक सम्पत्ति की स्वार्थपूर्ण लूट" जैसे नए अवयव उभर रहे थे, जिनसे हाल में पीछे छूटीं जनजातियाँ अनभिज्ञ थीं।[22]

---

the two upper classes at the cost of the producing class. The producing class, in turn, was looking for a new social philosophy that would ensure the smooth growth of culture. Due to the advent of brāhmaṇical ideas and institutions in the middle Gaṅgā region, the producing class could buy the very bonafides of the brāhmaṇical ideology. (***वही.***167ff.)

[20]D.P. Chattopadhyaya, *Lokāyata*, New Delhi: People's Publishing House, 1978: 459ff.

[21]As the religious movements in the post-Vedic period had a far wider view than the ritualistic nature of brāhmaṇism, they were not contented with it. In his opinion, the tribals organization had already begun to disintegrate from within.(*Ibid.* 468.)

[22]In their frantic drive for conquest and expansion, the early monarchies were systematically annihilating the surviving free tribes. And within the orbits of their direct domination, new phenomena- "base greed, brutal sensuality, sordid avarice, selfish plunder of common possessions"- phenomena that were unknown to tribals recently left behind, were emerging.D.P. Chattopadhyaya, *Lokāyata*,

दूसरे शब्दों में, व्यक्तिगत सम्पत्ति की उत्पत्ति, जनजातीय एकात्मता का अन्त, निरंकुश राजतंत्र का उद्भव तथा हिंसा, लोभ आदि जैसी असामाजिक प्रवृत्तियों के विकास और गिरवी, कर, सूदखोरी जैसी संस्थाओं के विकास ने जन–साधारण को भयभीत कर दिया। इस प्रकार के भयपूर्ण वातावरण में बुद्ध ने ऐसी विचारधारा प्रस्तुत की, जो जनसाधारण को मनोवैज्ञानिक शान्ति पहुँचा सके। बुद्ध ने इस प्रकार की दषा के कारणों की खोज में न पड़ते हुए लोगों के सांसारिक (भौतिक) दुःख की जगह सार्वभौम दुःख के ज्ञान द्वारा उन्हें आदर्श समाधान दिया।[23] जिन्होंने संन्यासी बने रहना ही उचित समझा उन्हें बौद्ध संघ, जो जनजातीय जीवन–शैली अर्थात् स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व पर आधारित था, में जगह मिली। ट्रेवर लिंग के अनुसार इस क्षेत्र में कृषि के विकास ने अत्यधिक सघन आबादी एवं नगरीकरण को जन्म दिया और बदले में नगरीकरण ने सामाजिक स्तर पर व्यक्तिवाद को तथा राजनीतिक स्तर पर निरंकुश राजतंत्र को जन्म दिया। व्यक्तिवाद एवं राजतंत्रवाद के विकास ने व्यक्ति की नैतिक एवं आध्यात्मिक सोच को अस्त–व्यस्त कर डाला। इस दुविधा ने मानवीय परिस्थितियों के प्रति असंतोष पैदा किया और बुद्ध के लिए व्यक्तिगत दुःखों की यह बात ही उनके मानवीय दषा के विश्लेषण का आरम्भिक बिन्दु बनी।[24]

468.

[23]The Buddha, instead of going into the causes of such developments, provided them with a perfect solution by replacing the material suffering by universal suffering.

[24]The development of agriculture in this region witnessed a high density of population and urbanization. And urbanization, in turn, led to individualism at the social level and autocratic monarchism at the political level. Growth of individualism and monarchy led to the unsettling of the individual morally and spiritually. This dilemma created dissatisfaction in the human

कुछ विद्वानों का विश्वास है कि वैदिक काल के अन्तिम समय में लौह तकनीक के विकास एवं उसके प्रयोग के परिणामस्वरूप समाज में गुणात्मक परिवर्तन आया था तथा इसने गंगा घाटी के नगरीकरण को जन्म दिया। आगे बौद्ध धर्म की उत्पत्ति को गंगा घाटी में नगरीकरण के साथ जोड़कर देखा जाता है। दूसरे शब्दों में, बौद्ध धर्म के उद्भव को गंगा घाटी में लोहे के उपकरणों के बढ़ते हुए प्रयोग के परिणाम के रूप में देखा जाता है। इन विद्वानों का कहना है कि लौह तकनीक ने कृषि के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिससे अधिशेष उत्पादन (production of surplus) में सहायता मिली और इस प्रकार नगरीय केन्द्रों, जो कि दस्तकारी एवं व्यापार पर आधारित थे, का उद्भव हुआ। इस नगरीकरण से बहुत सी समस्याएँ पैदा हुईं जिनका सैद्धान्तिक (वैचारिक) स्तर पर समाधान आवश्यक था ताकि कृषि का आधार अधिक विस्तृत हो तथा प्रभावी सामाजिक ढाँचा (prevailing social structure) अधिक दृढ़ हो सके। इन विद्वानों का विश्वास है कि बुद्ध ने इन्हीं कारणों से पशु हिंसा की निन्दा की तथा शिल्प, व्यापार और सूदखोरी आदि को वैधता प्रदान की। उन्होंने असंबद्ध महिलाओं (alienated women) तथा सार्वजनिक भोजनालयों (public eating houses) को सामाजिक मान्यता प्रदान की। बौद्ध धर्म की ओर जनसाधारण को आकर्षित करने के उद्देश्य से बौद्ध भिक्षुओं को सलाह दी गई थी कि वे ब्राह्मण पुरोहितों के आडम्बरपूर्ण, लोभी एवं असंयमी जीवन के विपरीत सादगीपूर्ण और पवित्र जीवन व्यतीत करें। इस प्रकार लौह तकनीक के बढ़ते प्रयोग को बौद्ध धर्म के उद्भव एवं सफलता के एक

---

condition and for the Buddha this point of individual suffering became the starting point of his analysis of the human condition. (Trevor O. Ling, *The Buddha: Buddhist Civilization in India and Ceylon*, London: Temple Smith, 1976: 104-117).

उत्तरदायी कारण के रूप में देखा जाता है। यहाँ पर इस परिकल्पना को विस्तारपूर्वक परखना सार्थक होगा।

प्राचीन भारत के परिप्रेक्ष्य में लोहे की भूमिका को 1950 के दषक के आरम्भ में उठाया गया था जब डी॰डी॰ कोसाम्बी ने बुद्ध काल में लोहे का प्रयोग होने पर जोर दिया था।[25] उनके बाद इस विषय को कई विद्वानों ने आगे बढ़ाया तथा इसका समर्थन करते हुए उन्होंने लौह तकनीक की भूमिका को महत्त्वपूर्ण ठहराया।[26] इस

---

[25] D.D. Kosambi, "Ancient Kosala and Magadha," *JBBRAS*, XXVIII, 1952: 108-123; "The Beginning of the Iron Age in India," *JESHO*, VI, Pt. III, 1963: 309-318.

[26] For instance, N.R. Banerjee, *The Iron Age of India*, Delhi: Motilal Banarsidass: 1965; D.P. Agrawal, "Steps Towards Urban Revolution in the Doab: Archaeological and Ecological Data," cyclostyled paper, 1971; K. Deva, "Observations on Chakrabarti's Paper," *Purātattva*, 6, 1972-73: 33-34; M.C. Joshi, "Observations on Chakrabarti's Paper," *Purātattva*, 6, 1972-73: 35; and "Early Historical Urban Growth in India: Some Observations," *Purātattva*, 7, 1974: 90-91; R.S. Sharma; "Material Background of the Origin of Buddhism," M. Sen & M.B. Rao (eds), *Das Capital Centenary Volume: A Symposium*, Delhi: People's Publishing House: 1968: 58-66; "Material Milieu of the Birth of Buddhism," a paper read at the *29th Conference of the Orientalists*, Paris, 1974; "Iron and Urbanization in the Gaṅgā Plain," *IHR*, I, 1974: 98-103; *Perspectives in Social and Economic History of Early India*, New Delhi: Munshiram Manoharlal: 1983: 105-127; *Material Culture and Social Formation in Ancient India*, first edition, New Delhi: Munshiram Manoharlal:1983, paperback reprint, Madras: Macmillan: 1992: 89-134; R. Thapar, *Ancient Indian Social History: Some Interpretations*, New Delhi: Sangam Publishers: 1978: 236-37; S.P. Gupta, "Two Urbanizations in India: A Study of Their Social Structure," *Purātattva*, 1974: 53-60.

परिकल्पना के प्रस्तावकों ने यह बताया है कि छठी सदी ई॰पू॰ से आगे लौह उपकरणों ने मध्य गंगा घाटी में खेती के उद्देश्य के साथ–साथ उपनिवेश (बस्ती) हेतु घनी वनस्पतियों को साफ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। हालाँकि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि इस कार्य में आग ने भी सहायता की, परन्तु वे इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं कि जंगलों की सफाई में लौह उपकरणों की अपेक्षा किसी और चीज ने भी अग्रणी भूमिका निभाई। इस परिकल्पना के अनुसार, यदि आग का प्रयोग किया भी गया होगा, तो भी जली हुई वनस्पतियों के ठूंठों (stumps) को हटाना संभव नहीं रहा होगा।[27] आगे मध्य गंगा घाटी में हम पाते हैं कि वृक्ष अपनी जड़ें क्षैतिज रूप से पकड़ते हैं और कृषि कार्य तब तक कठिन होता है, जब तक जड़ों को लोहे की कुल्हाड़ियों अैर कुदालियों से हटा न दिया जाय। इस क्षेत्र में स्थित उत्तरी काले परिष्कृत मृद्भांड (NBPW)[28] वाली बस्तियों की अपर्याप्त जनसंख्या पत्थर के औजारों द्वारा इस कार्य को नहीं कर सकती थी। इसके अलावा यह भी दावा किया जाता है कि लोहे की कुल्हाड़ियों एवं फावड़ों के उपयोग के बगैर उष्णकटिबन्धीय वनों की जड़ों और ठूँठों को हटाना संभव नहीं था। ईख, सरसों, धान आदि जैसी फसलों के बीजारोपण के लिए काफी गहरी जुताई की आवश्यकता होती है जो कि विशेषकर बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के कठोर एवं मृण्मय मिट्टी युक्त क्षेत्रों में, बिना लोहे की फाल वाले हल से असंभव रही होगी। दूसरे शब्दों में, वनस्पतियों की जड़ों का उन्मूलन लौह तकनीक की सहायता के बिना नहीं किया जा सकता था।[29] यह भी कहा गया है

---

[27]R.S. Sharma, *Perspectives in Social…*: 120.

[28]***हालाँकि*** **NBPW** ***की तिथि के बारे में विद्वानों में अभी तक कोई सहमति नहीं है, लेकिन लगभग 500–200 ईसा पूर्व को गंगा घाटी के लिए तर्कसंगतपूर्ण प्रतिनिधि तिथि माना जा सकता है।***

[29]R.S. Sharma, *Perspectives in Social…*: 92.

कि मध्य गंगा घाटी के अधिकांश क्षेत्रों की मिट्टी कठोर है और इस पर लकड़ी के हल द्वारा कृषि कार्य कर पाना संभव नहीं रहा होगा।[30] तथापि राम षरण शर्मा ने कहा है कि साहित्यिक साक्ष्य, विशेषकर आरम्भिक पालि साहित्य तथा पाणिनिकृत अष्टाध्यायी में लौह औजारों, जैसे कि फालों, कुल्हाड़ियों, कुदालों, दराँतियों, हथौड़ों आदि का उल्लेख हुआ है। उनके अनुसार इन सभी साहित्यिक स्रोतों की काफी हद तक पुष्टि कौशाम्बी और वैशाली से प्राप्त लोहे के फालों, कौशाम्बी, वैशाली और वाराणसी से गर्तिका–युक्त (socketed) लोहे की कुल्हाड़ियों तथा वैशाली, प्रह्लादपुर आदि जैसी जगहों से कुदालों, दराँतियों आदि की प्राप्ति से हो जाती है।[31] फिर भी इस काल में कृषि में काम आनेवाले लोहे के औजारों के न मिलने की व्याख्या पर्यावरणीय प्रभाव द्वारा की जाती है। शर्मा की मान्यता है कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा बिहार की अम्लीय, अत्यधिक आर्द्र और उष्ण जलोढ़ मिट्टी जो कि अत्यधिक क्षयकारी (संक्षारक) है, लौह उपकरणों के संरक्षण के लिए हानिकर सिद्ध हुई और इसने ऑक्सीकरण से इन्हें भूरी–लाल धूल में परिवर्तित कर दिया।[32] आगे चलकर जब पिटवें लोहे की जगह स्टील का प्रयोग होने लगा तब ये उपकरण टिकाऊ तथा अधिक उपयोगी साबित हुए एवं अद्यतन ये प्रयुक्त हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि जिन केन्द्रों की अब तक खुदाई हो चुकी है (जैसे कि चम्पा, राजगृह, वाराणसी आदि) ये प्रशासनिक, व्यावसायिक, शिल्पकारी या धार्मिक केन्द्र थे और ये सभी कृषि कार्य में उपयोग में लाए जाने वाले

---

[30]R.S. Sharma, *Material Culture*...: 120.

[31] R.S. Sharma, *Perspectives in Social*...: 93.

[32]R.S. Sharma, *Perspectives in Social*...: 93-94. Sharma has taken this cue from H.C. Bharadwaj, "Aspects of Early Technology in India," D.P. Agrawal & A. Ghosh (eds), *Radiocarbon and Indian Archaeology*, Bombay, 1973: 393-397.

औजारों की प्राप्ति के लिए उपयुक्त स्थान नहीं हैं। इसके अलावा विभिन्न बस्तियों की खुदाई में प्रयुक्त विधियों की खामियों को भी इन उपकरणों की अनुपस्थिति (अभाव) का दोषी ठहराया गया है।[33] कम से कम 500 ई॰पू॰ में आहत–मुद्रा (punch-marked coins) के निर्माण में लौह तकनीक के प्रयोग जैसे कुछ अप्रत्यक्ष साक्ष्य भी प्रस्तुत किये गए हैं। बहुत बड़े पैमाने पर लकड़ी की संरचनाओं की उपस्थिति, जो मैगस्थनीज़ ने देखी थीं, उन्हें भी मात्र लौह तकनीक के प्रयोग के परिणाम के रूप में देखा गया है। इस प्रकार यह तर्क दिया गया है कि शिल्प, उद्योग तथा कुछ व्यवसायों की अभूतपूर्व वृद्धि (unprecedented growth) लौह तकनीक द्वारा आरम्भ हुई थी।[34] संक्षेप में, इस पैमाने पर लौह तकनीक के उपयोग का परिणाम कृषि क्षेत्र में आए क्रान्तिकारी परिवर्तन के रूप में देखा जाता है जिससे अधिशेष उत्पादन होने लगा और उस अधिशेष उत्पादन ने ही व्यापार–वाणिज्य एवं नगरीकरण को जन्म दिया जिससे अन्ततोगत्वा बौद्ध धर्म का उद्भव हुआ।[35]

लोहे की क्रान्तिकारी भूमिका का सिद्धांत बहुत सारे विद्वानों की स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सका है। निहाररंजन रे ने आरम्भ में ही इस आधार पर आपत्ति उठाई थी कि गंगा–यमुना घाटी में मौर्य शासन के आरम्भ से पहले लौह तकनीक और लौह उपकरणों का प्रचलन इस स्तर पर था कि उनसे सामाजिक परिवर्तन हुए, जिन्हें लोहे के प्रयोग से आए तकनीकी परिवर्तनों का परिणाम बताया गया

---

[33]R.S. Sharma, *Perspectives in Social…*: 93-94.

[34] ***वही.95.***

[35]Use of iron on this scale is seen as resulting in a revolution in agriculture, which in turn produced surplus and this surplus led to the origin of trade, commerce and urbanization; and ultimately to the birth of Buddhism.(R.S. Sharma, *Perspectives in Social…*: 96.)

है।[36] उन्होंने आगे लिखा है कि पुरातत्त्वीय साक्ष्य लौह तकनीक के उपयोग द्वारा बड़े पैमाने पर वनों की समाप्ति को नहीं दर्शाते। इसके अतिरिक्त, लौह तकनीक ने न तो गुणात्मक रूप से और न ही परिमाणात्मक रूप से इतनी अधिक विविधता प्राप्त की थी कि वह महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन ला सके।[37] उनकी आपत्ति इस आधार पर तर्कसंगत प्रतीत होती है कि चित्रित धूसर मृद्भांड (Painted Grey Ware= PGW) केन्द्रों[38] से जो लौह उपकरण प्राप्त हुए हैं वे धातुमल तथा आकाररहित काटने के औजार, वाणाग्र, भाले की नोक, चाकू, छुरे, कुदाली, बसूले, दरांती आदि हैं और स्पष्ट रूप से, उपकरणों की सूची में लोहे की कुल्हाड़ी (गर्तिका–युक्त या गर्तिका–रहित), लोहे के फाल या ऐसे अन्य उपकरण शामिल नहीं हैं जिनसे बड़े पैमाने पर वनों की सफाई तथा भूमि कृषि योग्य बनाकर विस्तृत पैमाने पर कृषि प्रचलन से संभवतया नगरों और शहरों के पालन–पोषण के लिए अधिशेष उत्पादन पैदा किया जा सकता हो।[39] लकड़ी के फालयुक्त हलों का प्रयोग कृषि कार्य में होता रहा होगा, परन्तु कुदाली द्वारा कृषि (hoe-cultivation) का प्रचलन ही अधिक सर्वव्यापक रहा होगा। आरम्भिक बौद्ध साहित्य में कुद्दाल[40] (कुदाली) जैसे शब्दों का प्रयोग भी शायद इसी ओर संकेत करता है। खुदाई में कुछ कुदालियाँ प्राप्त हुई हैं और लौह तकनीक का पूर्ण प्रयोग

---

[36] N.R. Ray, "Technology and Social Change," *Purātattva*, No. 8, 1978: 133.

[37] Iron technology was neither qualitatively nor quantitatively diversified enough to bring about significant social change ***(वही:133.)***

[38] PGW may be dated between c.1000-500 BC, though these dates are not universally accepted.

[39] N.R. Ray, *Op. Cit.*: 133.

[40] Vin.III.144; A.I.204, II.199; D.I.101; S.II.88, V.53; J.V.45.

मौर्यों से पहले नहीं हुआ था।[41] यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि हल का हरिस (नंगल–ईसा)[42] किसी भी वस्तु का, लकड़ी से लेकर यहाँ तक कि हाथी दाँत का भी बना हो सकता था।[43] हालाँकि उत्तरी काले परिष्कृत मृद्भांडों (NBPW) के स्तर से लोहा एक आधारभूत तकनीकी घटक बन गया था परन्तु प्रारम्भिक उत्तरी काले परिष्कृत मृद्भांड स्तर वाले किसी भी केन्द्र से विस्तृत पैमाने पर लोहे के उपकरण के उपयोग का साक्ष्य नहीं मिलता। मंद गतिमान समाज में लोहे का प्रभाव भी मंद ही रहा होगा[44] और इसने "समाज की भौतिक समृद्धि में कोई तेज़ गति पैदा नहीं की।"[45] इस प्रकार, लोहे की भूमिका को उत्प्रेरक की अपेक्षा स्थिरीकारी से अधिक नहीं कहा जा सकता।[46]

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण गंगा घाटी में लोहे की जानकारी लगभग 1000 ई॰पू॰ या उसके आस–पास के समय से थी और लौह तकनीक का विस्तृत प्रसार गंगा घाटी में

---

[41] N.R. Ray, *Op. Cit*: 130-138.

[42] S.I.104.

[43] ***देखें, उदाहरणतया,*** PED. *s.v. nangala-īsā*.

[44] In a slow-moving society the effect of iron is likely to have been slow. (A. Ghosh, "Observations on Chakrabarti's Paper," *Purātattva*, 6, 1972-73: 35.)

[45] "did not produce any *spurt* in the material prosperity of the society." (A. Ghosh, *The City in Early Historic India*, Simla: Indian Institute of Advanced Study, 1973: 10).

[46] "the role of iron cannot be seen as more than a stabilizer as against an initiator." (D.K. Chakrabarti, "The Study of Iron Age in India," *Purātattva*, Nos. 13-14, 1984: 85).

पहली सहस्राब्दी ई॰पू॰ के प्रथम भाग में हो चुका था।[47] कृषि–कार्य में उपयोग में लाए जाने वाले उपकरणों का क्षयकारी मिट्टी के कारण नहीं मिलने की परिकल्पना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि तथाकथित अम्लीय एवं आर्द्र मिट्टी ने कृषिगत उपकरणों एवं आलपिन, कील आदि, जो उस काल की खुदाई में प्राप्त हुए हैं जिस काल का हम अध्ययन कर रहे हैं, में पक्षपात नहीं किया होगा। इस प्रकार बुद्ध काल में लौह तकनीक की अचानक और क्रान्तिकारी भूमिका की परिकल्पना विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती। दिलचस्प बात यह है कि बिहार के लौह भण्डार मुगल साम्राज्य के अन्तिम समय तक उपयोग में नहीं लाए गए थे।[48] अवश्य ही लोहा कहीं और से, संभवतया मालपुर (राजस्थान), नरवाड़ (राजस्थान), कलिंजर (इलाहाबाद से लगभग 70 मील दक्षिण–पष्चिम में), मण्डी (हिमाचल प्रदेष), रामगढ़ (कुमाऊँ पहाडियाँ), बुरहानपुर (मध्य भारत), गंजाम

---

[47] ***वही। लोहे के उद्भव*** और उसकी भूमिका के बारे में विस्तृत जानकारी के लिए देखें, D.H. Gordon 1950: 58-78; N.R. Banerjee, *The Iron Age of India*, Delhi: Motilal Banarsidass*: 1965*: 4-5, 224-225; D.K. Chakrabarti, Op. Cit.: 1973: 336-338; “The Beginning of Iron in India,” *Antiquity*, 50 (198), 1976: 114-124; “Distribution of Iron Ores and Archaeological Evidence of Early Iron in India,” *JESHO*, XX, Part II, 1977: 166-185; “Iron in Early Indian Literature,” *JRAS*, 1979: 22-30; “The Study of Iron Age in India,” *Purātattva*, Nos. 13-14, 1984: 81-85; F.R. Allchin & B. Allchin, *The Rise of Civilization in India and Pakistan,* Cambridge: Cambridge University Press: 1982: 345.

[48] विस्तृत जानकारी के लिए देखें, I. Habib 1982: 41 and map 10B.

(उड़ीसा) तथा ग्वालियर क्षेत्र की किसी एक लौह–खदान से आयात किया जाता होगा।[49]

जहाँ तक वनों की सफाई का प्रश्न है, इसकी बहुत सी संभावनाएँ रही होंगी। आग की भूमिका को कम नहीं आँका जा सकता, विशेषकर तब जब हम यह जानते हैं कि अत्याधुनिक उपकरणों के रहते हुए आज भी जंगल की आग को काबू कर पाना बहुत कठिन होता है। यदि आग द्वारा वृक्षों के ठूँठों को समाप्त नहीं भी किया जा सका होगा, तब भी सभी ठूँठों को हटाने की आवष्यकता नहीं थी, विशेषकर तब, जब पर्याप्त मात्रा में भूमि उपलब्ध थी। इसके अलावा निश्चित रूप से सम्पूर्ण भूमि वनों से ही आच्छादित नहीं थी। तत्कालीन जनसंख्या को ध्यान में रखने पर, जिसका अधिकांश भाग शिकार और विभिन्न प्रकार के जंगली जीवों पर निर्भर था, यह संदेहास्पद विषय हो जाता है कि कृषि के उद्देश्य से विस्तृत पैमाने पर वन भूमि की प्राप्ति हेतु कोई गम्भीर प्रयास की आवश्यकता थी। आरम्भिक बौद्ध साहित्य वनों की कहानियों और प्रसंगों से भरा पड़ा है और यह विश्वास करना कि मौर्य काल से पहले वनों का सफाया कर दिया गया था, विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता। यह उल्लेख करना भी रोचक होगा कि चित्रित धूसर मृद्भांड (PGW) काल में वनों की सफाई के सभी उपकरण उपलब्ध थे। इसलिए आवष्यकता पड़ने पर वनों की सफाई ताम्र–कांस्य उपकरणों से भी की जा सकती थी। हालाँकि उत्तरी काले परिष्कृत मृद्भांड (NBPW) काल में औजारों की संख्या दुगुनी हो जाती है, लेकिन इस मृद्भांड का क्षेत्र भी दुगुना हो जाता है तथा उपकरणों की संख्या में वृद्धि मौलिक रूप से छोटी वस्तुओं जैसे कील आदि में होती है। हमें चित्रित धूसर मृद्भांड काल में न तो उपयोग किए जानेवाले औजारों की तकनीक में और न ही उनके विस्तार में कोई

[49]I. Habib, *An Atlas of the Mughal Empire*, 1982: 38 and maps nos. 4B, 6B, 8B, 9B.

पर्याप्त परिवर्तन दिखाई पड़ता है।[50] गंगा घाटी के कुछ इलाकों के किए गए सर्वेक्षण यह दर्शाते हैं कि संभवतः किसी प्रकार के वनों की समाप्ति की बिल्कुल भी आवश्यकता नहीं थी, उदाहरण के लिए, कानपुर जिले में, जो कि गंगा के मैदान का अच्छा प्रतिनिधित्व करता है, किया गया एक सर्वेक्षण यह स्पष्ट करता है कि तत्कालीन समय में कुल भूमि के 3 प्रतिशत हिस्से की ही मूल रूप से कृषि कार्य के लिए आवष्यकता थी जिसका अधिकांश भाग नदियों तथा झीलों के किनारे मुलायम जलोढ़ मिट्टियों (soft alluvial soils) एवं जंगलों के मध्य स्थित खाली स्थानों के रूप में उपलब्ध था।[51] आरम्भिक बौद्ध साहित्य कम से कम जंगलों की सफाई सम्बन्धी क्रियाकलापों के बारे में मौन है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण के अल्पाक्षर संकेत को ही बहुत बढ़ा–चढ़ा कर पेश किया गया है। इससे आगे यह भी कहा जा सकता है कि हल उसी समय चलाए जाते थे जब मिट्टी में उचित मात्रा में आर्द्रता विद्यमान रहती थी, क्योंकि बिना आर्द्रता के बीज साधारण तौर पर अंकुरित नहीं होते हैं। ऐसा शायद ही सुनने को मिलता है कि कोई किसान गंगा घाटी के मुख्य खाद्यान्न धान की खेती के लिए उस समय हल जोतने का प्रयास करता है जब तक उचित मात्रा में लम्बे समय तक जलापूर्ति उपलब्ध न हो और जुताई के समय भूमि अच्छी तरह से आर्द्र और मुलायम न हो। इसलिए ऐसी परिस्थिति में लकड़ी का हल टिकाऊ न होने के बावजूद भी समान रूप से उपयोगी रहा होगा। इसके अतिरिक्त धान के पौधों को लगाने से पहले भूमि को अच्छी प्रकार से लकड़ी के भारी तख्ते की मदद से बराबर किया जाता है और यह प्रक्रिया धान की खेती का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग है।

---

[50]M. Lal, “Iron Tools, Forest Clearance and Urbanization in the Gangetic Plains,” *Man and Environment*, X, 1986: 85.

[51] *वही.*

इस तथ्य के बावजूद कि गंगा घाटी में लोहे का प्रचलन लगभग 1000 ई॰पू॰ से था हमें उत्तरी काले परिष्कृत मृद्‌भांड काल तक सामान्य बस्तियों के श्रेणी–आकारों (size categories) में कोई खास परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता, जबकि इस समय तक नगरीकरण की प्रक्रिया एक वास्तविकता बन चुकी थी। यदि गंगा घाटी में आरम्भिक ऐतिहासिक नगरीकरण की प्रक्रिया में लोहा ही मुख्य कारक था तो श्रेणी–आकारों तथा बस्तियों की रचना में यह उपक्रम चित्रित धूसर मृद्‌भांड काल में ही हो जाना चाहिए था।[52] इस प्रकार से यह अनुमान करना उचित होगा कि गंगा घाटी में लौह तकनीक के पूर्ण रूप से विकसित होने के पूर्व, इसका विकास काफी लम्बी अवधि, कम से कम ई॰पू॰ 700 से मौर्य काल के मध्य में अवष्य हुआ होगा। इस नई तकनीकी अवयव ने निश्चित रूप से आर्थिक आधार को मजबूत किया होगा, जिसे प्राथमिक रूप से नव–पाषाण, ताम्र–पाषाणवासियों द्वारा प्रारम्भ किया गया होगा, परन्तु इसे निश्चित तौर पर नहीं लिया जा सकता कि लोहे का उद्भव ही गंगा घाटी में नगरीकरण का आधारीय प्रेरणार्थक कारक था।[53]

गंगा घाटी में नगरीकरण का विकास अचानक नहीं हुआ। इसका विकास गंगा घाटी के समाज के समग्र विकास का अभिन्न अंग था। विभिन्न संस्थाएँ, जिन्होंने गंगा घाटी में नगरीकरण के उद्भव तथा विकास में भूमिका अदा की, उनके विकास का एक लम्बा इतिहास था। लगभग सभी बुद्धकालीन महत्त्वपूर्ण नगर, महत्त्वपूर्ण राज्यों की राजधानियाँ थे और इस रूप में वे राजनीतिक सत्ता के केन्द्र थे। वे सभी ग्रामीण बस्तियों के विस्तार थे, जहाँ समय के साथ–साथ शासक वर्गों ने स्वयं को ठाट–बाट एवं गौरव से संगठित

---

[52] D.K. Chakrabarti, *Op. Cit*. (1984).

[53] It may not be taken for granted that the advent of iron was the basic causative factor of urbanization in the Gaṅgā valley.

एवं स्थापित कर लिया था।[54] इसके अलावा, 5वीं सदी ई॰पू॰ में उन बस्तियों की संख्या तथा आकार जिन्हें नगरीय कहा जा सकता हो, इतने विस्तृत नहीं थे कि उनके लिए उत्पादन–पद्धति में बड़े पैमाने पर तथा अचानक परिवर्तन करने की ज़रूरत पड़ी हो।[55]

अधिशेष का सवाल (Question of Surplus)

अधिशेष की संकल्पना कभी–कभी कारकवादी कारक प्रतीत होती है, परन्तु ज्यादातर परिस्थितियों में इसे विकास के लिए आवश्यक कारक नहीं तो इसे पर्याप्त कारक तो माना ही जाता है। विकासात्मक परिवर्तन में इसकी प्रासंगिकता को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है।[56] प्रथम, अधिशेष उत्पादन उन भौतिक साधनों की मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है, जो तत्कालीन समाज की मूल आवश्यकता से अधिक प्रतीत ***होता है।***[57] ***एम॰जे॰*** हर्सकोविट्स ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है– "आवश्यकता की अल्पतम माँग

---

[54]They were extensions of rural settlements where, with the passage of time, the ruling classes organized and established themselves with all their pomp and glory.

[55]In the 5th century BC, the number and size of those settlements which could be called urban, were hardly of a magnitude that would call for a major and sudden shift in the mode of production.

[56]यहाँ अधिशेष उत्पादन से संबंधित मुद्दे पर पियर्सन (H.W. Pearson) द्वारा की गई टिप्पणियों के आधार पर विवेचन किया गया है ("The Economy has no Surplus: A Critique of the Theory of Surplus," K. Polanyi *et al* (eds), *Trade and Market in the Early Empires*, Glencoe, Illinois: The Free Press, 1957: 320-341).

[57]Surplus is taken to represent that quantity of material resources which exist over and above the substance requirements of a society in question.

से अधिक वस्तुएँ"[58] तथा वी॰ गॉर्डन चाइल्ड के लिए सामाजिक अधिशेष "घरेलू आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न" ही था।[59] यह बताया गया है कि इस प्रकार के अधिशेष ने, जो कि तकनीक एवं उत्पादकता के विकास के साथ प्रकट हुए, सामाजिक और आर्थिक संगठन के एक स्तर को दूसरे स्तर से अलग किया। द्वितीय, अधिशेष उत्पादन को महत्त्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक घटनाओं का आधारभूत कारण माना जाता है।[60] व्यापार और बाजार, मुद्रा, नगर, सामाजिक वर्ग–भेद, यहाँ तक कि स्वयं सभ्यता, इस प्रकार के अधिशेष की उत्पत्ति का परिणाम माने जाते हैं।[61]

ये दोनों विषेषताएँ स्पष्ट रूप से संकेत देती हैं कि जीवन–निर्वाह का एक स्तर (subsistence level) होता है और उस स्तर तक एक बार पहुँच जाने पर उसके ऊपर अधिशेष उत्पन्न होता है। आवष्यकताएँ कैसी भी हों, यह अधिशेष उनसे ऊपर होता है और निपटारे के लिए उपलब्ध हो सकता हैः जैसे कि इसका बाहर सौदा किया जा सकता है, या दस्तकारों, सावकाषिकों और समाज के अन्य

---

[58] "an excess of goods over the minimum demands of necessity" (M.J. Herskovits, *Economic Anthropology*, New York, 1952: 395).

[59] *Social surplus* was the "food above domestic requirements." (V. Gordon Childe, "The Birth of Civilization," *Past and Present*, II, Nov. 1952: 3).

[60] Surplus is seen as the root cause of typical social and economic developments of prime importance.

[61] V. Gordon Childe, *What Happened in History?*, Harmondsworth: Pelican Books: 1942; "The Birth of Civilization," *Past and Present*, II, Nov. 1952; M.J. Herskovits, *Op. Cit.*; R.H. Hilton, "The Transition from Feudalism to Capitalism," *Science and Society*, XVII, 4, Fall 1953.

अनुत्पादक वर्गों के भरण–पोषण में प्रयुक्त हो सकता है।[62] दूसरे शब्दों में, यह काफ़ी जटिल सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं के उदय में मुख्य परिवर्तनीय कारक बन जाता है। परन्तु, चूँकि अधिशेष शब्द "जीवन–निर्वाह हेतु आवश्यकता से अधिक अतिरेक" को द्योतित करता है, अतः जीवन–निर्वाह की आवश्यकताओं को परिभाषित करने की ज़रूरत है। इन आवश्यकताओं को जैविक या सामाजिक रूप से निश्चित किया जा सकता है। जहाँ एक व्यक्ति की न्यूनतम जीवन–निर्वाह की आवश्यकता को निश्चित कर पाना कठिन है, वहीं सम्पूर्ण समाज की न्यूनतम जैविक आवश्यकताओं को तो निश्चित कर पाना असंभव ही है। यह सर्वविदित है कि लगभग प्रत्येक समाज की जनसंख्या का एक बड़ा या छोटा अंष ऐसा होता है जो जीवन–निर्वाह के स्तर पर जीवन जीता है और जिसे वैज्ञानिक रूप से अपर्याप्त समझा जाता है। इसके बावजूद, तर्क के लिए हम यह कह सकते हैं कि यदि जीवन–निर्वाह की आवश्यकता का जैविक रूप से निर्धारण हो सकता है, तब अधिशेष, जिसके बारे में कहा जाता है कि यह आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त उत्पन्न होता है, नितान अधिशेष (absolute surplus) होगा। तात्पर्य यह है कि यह वह मात्रा होगी जो जैविक रूप से जरूरी आवश्यकता के अतिरेक सामाजिक रूप से अपरिभाषित उद्देश्य के लिए होगी। यदि यह माना जाए कि जीवन–निर्वाह की आवश्यकता को जैविक रूप से न परिभाषित कर सामाजिक रूप से परिभाषित किया जाए, तब नितान अधिशेष के सिद्धांत के लिए कोई जगह नहीं रह जाती है क्योंकि तब आर्थिक संसाधनों के बँटवारे का निर्धारण मात्र जीवन–निर्वाह तथा अन्य आवश्यकताओं के बीच इस प्रकार परिभाषित आवश्यकता के पूर्ण प्रसंग में किया जाएगा। मात्र

---

[62] It may be traded abroad, or used to support the existence of craftsmen, a leisure class, or other non-productive members of the society.

जीवन–निर्वाह की आवश्यकताओं को समाज द्वारा अर्थव्यवस्था से की गई संपूर्ण क्रियाशील माँगों से अलग नहीं किया जा सकता। यदि अधिशेष के सिद्धांत को यहाँ पर थोड़ा भी लागू करना हो तो, यह निश्चित रूप से सापेक्षिक या रचनात्मक अर्थ में होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अधिशेष तभी होगा जब समाज वस्तुओं या सेवाओं की एक दी हुई मात्रा को किसी भी प्रकार से अलग कर इसकी घोषणा किसी विशेष उद्देश्य हेतु कर दे। तब इस श्रेणी में कुछ ऐसे पदार्थ, जैसे कि आनुष्ठानिक भोज एवं यज्ञ हेतु खाद्यान्न आ सकते थे, जो भविष्य में कमी की संभावना को देखते हुए वैदिक काल से किया जाता था। यह सत्य है कि ऐसे अधिशेष भौतिक साधनों के अप्रत्याशित वृद्धि के साथ–साथ या उत्पादन क्षमता के अधिक स्थायी विकास के साथ–साथ प्रकट होते गए। परन्तु ये अधिशेष वस्तुओं या सेवाओं के एक उपयोग से दूसरे उपयोग में पुनर्निर्धारण कर, उनके जीवन–निर्वाह की मात्रा जो भी हो उसमें बिना परिवर्तन किए भी उत्पन्न किए गए। इस प्रकार सापेक्षिक अधिशेष के उत्पन्न होने में प्राकृतिक परिस्थितियों की तुलना में, महत्त्वपूर्ण संसाधनों की ओर मनोवृत्ति तथा उनकी गणना का सांस्थानिक तरीका व उन्हें अलग रखने और उपलब्ध कराने का योगदान अधिक था। वस्तुतः जीवन निर्वाह–स्तर के सिद्धांत को स्वार्थहीन (altruistic) संदर्भ में ही प्रयुक्त किया जा सकता है।

अर्थव्यवस्था भौतिक अस्तित्व के प्रत्येक स्तर पर मनुष्य और उसके वातावरण के बीच एक दूसरे को प्रभावित करने की वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें वस्तुएँ एवं सेवाएँ अपना रूप परिवर्तित करती हैं और एक से दूसरे हाथों में घूमती हैं। इस प्रक्रिया का आकार किसी एक कारक द्वारा निश्चित नहीं होता बल्कि मनुष्य के अस्तित्व के संतुलन के लिए एक दूसरे पर अवलम्बित स्तरों जैसे पर्यावरणिक, प्रौद्योगिक, सामाजिक और सांस्कृतिक का कुल योग होता है। "समाज में रहनेवाला मनुष्य अधिशेष उत्पादन तब तक नहीं करता जब तक वह उसे यह नाम नहीं देता और तब इसका

प्रभाव इसे संस्थागत रूप देने के तरीके के अनुसार होता है।"[63] वस्तुतः यह अस्वीकारा नहीं जा सकता कि परिवर्तनशील प्रौद्योगिकी तथा उत्पादकता सांस्थानिक विकासक्रम में अपनी भूमिका अदा करती हैं। यहाँ पर सरल तर्क यह है कि वे सामान्यतया उपलब्ध अधिशेष को उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि इसका तात्पर्य है संस्थागत समूह से प्रौद्योगिकी विकास, जो कि इसका भाग है, को अलग करना। "सापेक्षिक अधिशेषों की उत्पत्ति की निश्चित संस्थागत आवश्यकताएँ हैं। ... परिचालन सुविधाओं के साथ–साथ विलगाव के लिए प्रयोजन, गणना, संचय, भौतिक साधनों की लामबन्दी तथा मानवीय सेवाएँ अर्थव्यवस्था के संस्थागत ढाँचे द्वारा अवश्य ही उपलब्ध की जानी चाहिएँ, यदि अधिशेषों को किसी विशेष उद्देश्य के लिए उपलब्ध कराना हो।"[64] यह विचार करना भी आवश्यक है कि आरम्भिक मनुष्य का अध्ययन यह दिखा चुका है कि वह केवल अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जीवित नहीं था बल्कि उसमें दूरदर्शिता थी तथा वह विभिन्न प्रकार का संयम प्रयोग करता था।[65] प्रतिष्ठा पहलु (prestige factor) की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ जीवों, हालाँकि वे खाद्य पदार्थों के महत्त्वपूर्ण अवयव बन सकते हैं, को खाया नहीं जाता है क्योंकि वे समाज के किसी न किसी प्रतिष्ठा मूल्य को अभिव्यक्त करते हैं।

---

[63] "Man, living in society, does not produce a surplus unless he names it as such, and then its effect is given by the manner in which it is institutionalized." (H.W. Pearson, "The Economy has no Surplus: A Critique of the Theory of Surplus," K. Polanyi *et al* (eds), *Trade and Market in the Early Empires*, Glencoe, Illinois: The Free Press, 1957: 326.)

[64] ***वही : 335.***

[65] R. Firth, *Op. Cit.*: 9.

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि अधिशेष चिरस्थायी सर्वव्यापक स्तर पर प्रच्छन्न रूप से उपलब्ध होते हैं। लेकिन अधिक महत्त्वपूर्ण हैं उन्हें अस्तित्व में लाने के संस्थागत साधन। जहाँ तक भारतीय स्थिति का संबंध था, अधिशेष को उपलब्ध कराने के लिए शक्ति के राजनीतिक केन्द्रीकरण से बचना असंभव था। माल्थुस (Malthus) के प्राचीन संसार में अभाव एक आम बात थी जिसके परिणामस्वरूप पंक्ति के अन्त के व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती थी। ऐसे लोगों की, जिन्हें आवश्यक रूप से मरना था, पहचान पहले ही हो जाती थी। इसलिए कृषि में क्रान्ति आई या नहीं, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था क्योंकि जब तक गंगा घाटी के मुख्य नगर शक्तिशाली राजनीति के केन्द्र रहे वे हमेशा अधिशेष निचोड़ सकते थे। एक निश्चित अवस्था के पश्चात् कृषि क्षेत्र में जो विकास हुआ वह बहुत हद तक नगरीय केन्द्रों की माँग के चलते हुआ न कि किसी और वजह से।

आदिम तथा समतामूलक समाजों में भी *गुप्त* ***अधिशेष होता है***[66] ***परन्तु इसका*** उपयोग गरीबों की मदद तथा प्रकृति की अनिश्चितता के विरुद्ध बचाव के लिए होता है। परन्तु पुनर्वितरक समाजों (redistributive societies) में अधिशेष को बलपूर्वक अलग रखा जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी न किसी प्रकार का अधिशेष सभी सामाजिक समूहों में होता है। किसी एक तत्त्व द्वारा इस अधिशेष का किनारे किया जाना और बाद में उसके ***प्रयोग द्वारा दूसरे तत्त्वों का शोषण ही नगरीकरण का क्रम तय करता है।***[67] ***हमें यह भी अवश्य याद रखना चाहिए कि अभाव तथा***

---

[66] *Covert* surplus exists in primitive and egalitarian societies too.

[67] It is only the *cornering* of this surplus by one element and its subsequent use to exploit other elements that triggers off the urbanization sequence.

अपर्याप्तता के बावजूद, गरीब से गरीब भी नाचते–गाते तथा युद्ध लड़ते हैं एवं इस प्रकार अपने संसाधनों को अनुपयोगी रूप से प्रयोग में लाते हैं।

भारत में हाल–फिलहाल तक दीर्घावधि तथा विश्वसनीय अधिशेष उत्पन्न करने की न तो संभावना थी और न ही अनुमान किया जा सकता था। समय–समय पर सूखे तथा बाढ़ ने न केवल अधिशेष का खात्मा किया बल्कि भूखमरी की स्थिति भी उत्पन्न की और इस प्रकार से अधिशेष के संग्रह को असंभव बना दिया। अतः नगर के विशेषाधिकारप्राप्त उपभोक्ता, जिनके पास यह अधिकार होता है कि उत्पादक के पास जो कुछ भी बचा हो उससे छीन लें तथा दूर–दराज के क्षेत्रों से, जहाँ कि परिस्थिति प्रतिकूल न रही हो, खाद्य–पदार्थों को प्राप्त कर सकें, की तुलना में खाद्य–फसलों के उत्पादक को अधिक कष्ट उठाना पड़ता था (आज भी ऐसी ही स्थिति है)। हमें खनन द्वारा या साहित्यिक स्रोतों में ऐसे किसी विशाल गोदामों या अनाज–संग्रह के भण्डारों का संदर्भ नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि नगरीय केन्द्र अनाजों की मौसमी आपूर्ति पर निर्भर थे तथा अभाव की स्थितियों में गाँवों तथा आम लोगों को ही यह आघात सहन करना पड़ता था। अतः अधिशेष या उसे उत्पन्न करने की क्षमता से अधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक–राजनीतिक संस्था थी जो किसान के पास जो भी था उसका कुछ भाग देने के लिए उसे अभिप्रेरित या बाध्य कर सके। जहाँ इस अधिशेष की आवश्यकता थी उस दिशा में इसे भेज़ने के लिए तथा करीबी भू–भागों की फसल खराब हो जाने की स्थिति में सुदूर के भू–भागों से (पुनः जबरदस्ती या लिहाजवश) खाद्यान्न प्राप्त करने के लिए ऐसी संस्था की आवश्यकता थी। जबरदस्ती वसूली, जिसमें कर तथा नज़राना (tribute) शामिल थे, के लिए एक प्रशासनिक अधिकरण की तथा व्यावसायिक साधनों के लिए एक वाणिज्यिक व्यवस्था की आवश्यकता थी। इसलिए पूर्वापेक्षा एक काल्पनिक अधिशेष न होकर एक प्रशासनिक तथा वाणिज्यिक संगठन है– शासक तथा व्यापारी,

दोनों ही नगर के होते हैं जो प्राचीन काल में भी एक दूसरे के सहायक थे। अतः अधिशेष एक तकनीकी उत्पाद न होकर सामाजिक उत्पाद था, "संगठन ने अधिशेष को उत्पन्न किया, जो कि उस क्षण नहीं होता है, जिस क्षण तकनीकी रूप से यह संभव है, परन्तु यह कर, व्यापार तथा अन्य साधनों द्वारा संगठित होने मात्र पर ही संभव होता है।"[68] गैर–कृषिगत पहलू वसूली की तरह अधिशेष उत्पादन में भी प्रमुख होता है।[69] इसके अलावा, जनसख्या वृद्धि के लिए निर्मित कुछ निश्चित प्रोत्साहनों को भी नजरंदाज नहीं किया जा सकता। बच्चों को शिकारी–खानाबदोशों (hunter-gatherers) की अपेक्षा उत्पादन प्रक्रिया में पहले से ही लगाया जा सकता था। उपलब्ध भूमि से निष्क्रिय रूप से लाभ उठाने की अपेक्षा इसका विस्तार अधिक क्षेत्र को कृषि के अन्तर्गत ला कर किया जा सकता था, जिसका परिणाम होता है, कृषि कार्य करनेवाले समुदायों की संख्या तथा आकार में वृद्धि। इस प्रकार दास तथा बंधुआ मजदूर (विष्टि) अधिशेष उपलब्ध करानेवाले अन्य साधन हो सकते थे। जहाँ तक प्रौद्योगिक अविष्कार का सम्बन्ध है अधिकांश पूर्व–औद्योगिक आविष्कार तथा खोज 3000 ई॰पू॰ के तुरंत पहले के 1000 वर्षों के दौरान हुए। अतः नगरीय तथा प्राक्–नगरीय अवस्था के बीच महान परिवर्तन, मूल तकनीक के बजाए, जीवन–क्षेत्र में हुए। "बाद की

[68] "the institution created the surplus, which is not *there* the moment it is technically possible but only after it has been institutionalized through taxes, trade and other means." (P.M. Hauser & L. Schnore, Hauser, *The Study of Urbanization*, New York: John Wiley & Sons, 1965: 270.)

[69] The non-agricultural aspect is dominant in the procurement, and therefore in the production of surplus (A. Ghosh, *Op. Cit*, (1973): 21.)

तकनीकी श्रेष्ठता... का उन प्रक्रियाओं से कोई खास संबंध नहीं था जो नगर को अस्तित्व में लाईं।"[70] सही मायनों में यह भी कहा जा सकता है कि नियमित सेनाएँ, शायद जिनके लिए खाद्य–पदार्थों का संग्रह आवश्यक था, मगध के राजा अजातशत्रु की विस्तारवादी नीति के आरम्भ तक अस्तित्व में नहीं आई थीं।

नगरीकरण तथा बौद्ध धर्म

मैक्स वैबर (Max Weber) संभवतः पहले विद्वान थे जिन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि बौद्ध धर्म नगरीय संस्कृति की देन थी। उनके अनुसार, "बौद्ध धर्म स्वयं को समय के साथ नगरों के विकास, नगरीय राजतंत्र और नगरीय अभिजात्य वर्ग की व्युत्पत्ति के रूप में अभिव्यक्त करता है।"[71] उन्होंने आगे इस मुद्दे पर जोर देकर कहा कि "कुल मिलाकर आरम्भिक बौद्ध धर्म पददलित वर्ग की अपेक्षा निश्चय ही समृद्ध वर्ग की उपज थी।"[72] आरम्भिक दिनों का बौद्ध धर्म धनी और प्रभावशाली लोगों के दान और उदारता पर अत्यधिक

[70] "The later technological superiority… may have had little to do with the processes which brought the city into being." (R. McC Adams, "The Origins of Cities," *Scientific American*, 203 (3), 1966: 153-172.)

[71] "Buddhism presents itself as a product of the time of urban development, of urban kingship and the city nobles.") M. Weber, *The Religion of India*, nd: 204. (The text seems to have been written in the 1920s or so).

[72] "as a whole early Buddhism was the product not of the underprivileged but of very positively privileged strata." (M. Weber, *Op. Cit*: 204.)

निर्भर था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म नगरों और उनके धनी निवासियों पर अपनी निर्भरता कई प्रकार से प्रतिबिम्बित करता है।[73] नगरीकरण ने बौद्ध धर्म को उत्पन्न किया और इससे भी अधिक इसकी शीघ्र लोकप्रियता तथा भौतिक आधार में निश्चित रूप से उसने प्राणाधार का कार्य किया। बाद के दिनों में इस नगरीकरण का ह्रास बौद्ध धर्म के पतन का एक महत्त्वपूर्ण कारण बना क्योंकि उसने बौद्ध आन्दोलन के सामाजिक तौर पर कई महत्त्वपूर्ण आधारशिलाओं को अन्दर से खोखला कर दिया।[74] "हाथी पर सवारी करनेवाले राजाओं से युक्त नगरीय महल बुद्ध काल की विशेषता थी। इसके अतिरिक्त, बोली का स्वरूप भी नगरीय सभ्यता के उद्भव को प्रतिबिम्बित करता है।"[75]

नगरीकरण के उद्भव के साथ–साथ विभिन्न प्रकार की नई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ अस्तित्व में आईं। बुद्ध के काल में नगरीय केन्द्रों के उद्भव, निरूपित व्यापारिक मार्गों, मुद्रा–प्रणाली तथा व्यापार–वाणिज्य ने एक नए तथा शक्तिशाली व्यापारी–साहूकार वर्ग को जन्म दिया, जहाँ से श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक जैसे बौद्ध धर्म के महानतम संरक्षक आए। इस नए व्यापारी वर्ग के साथ–साथ एक नई राजव्यवस्था उस समय उभर

---

[73] Buddhism reflects its dependence on cities and their rich inhabitants in more than one way (K.T.S. Sarao, *Op. Cit*: (1985).

[74] It sapped some of the socially vital foundations of the Buddhist movement (B.G. Gokhale, "Early Buddhism and the Urban Revolution," *JIABS*, Vol. 5(2), 1982: 19.)

[75] "The urban palace with its elephant-riding kings was characteristic of Buddha's time. Moreover, the dialect form reflects the advent of city culture." (M. Weber, *Op. Cit*: 205.)

रही थी, जब बुद्ध अपने लम्बे धर्मशासन के 45 वर्ष पूरे करनेवाले थे।[76] इस राजनीतिक परिवर्तन के विशिष्ट प्रतिनिधि थे, मगध के राजा बिम्बिसार और कोषल के राजा प्रसेनजित जिन्हें बुद्ध ने अपने व्यक्तिगत मित्र तथा संरक्षक बताया। नए प्रकार की सेनाओं तथा युद्ध उपकरणों के साथ–साथ नए व्यापारिक वर्गों की स्पष्ट आवश्यकताओं ने इन राज्यों की शक्ति को आधार प्रदान किया।[77] विभिन्न नगरीय केन्द्रों, जैसे वैशाली (अम्बपालि), हत्थिनीपुर (सेरिनी) आदि की गणिकाओं को नये समाज में मान–सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और बौद्ध धर्म ने भी इनकी निन्दा नहीं की। वस्तुतः यहाँ यह ध्यान देना महत्त्वपूर्ण होगा कि बौद्ध धर्म द्वारा संघ में प्रवेश के लिए जहाँ एक ओर नवयुवकों, ऋणियों, सैनिकों, दासों, रोगियों तथा विवाहित स्त्रियों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए गए थे, वहीं दूसरी ओर गणिकाओं को धर्म में प्रवेश की स्वतंत्रता थी।

निम्नलिखित दो तालिकाएँ प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म के नगरीय चरित्र को प्रभावशाली रूप से प्रमाणित करती हैं।

जन्म स्थान	आवृति	प्रतिशत
नगरीय	233	84.77
ग्रामीण	041	15.63
योग	267	100.00

तालिका 1: जातकों **में बोधिसत्त्वों के जन्म स्थान।**

[76]B.G. Gokhale, *Op. Cit*. (1982): 7.

[77]विस्तृत जानकारी के लिए देखें, D.D. Kosambi, "Ancient Kosala and Magadha," *JBBRAS*, XXVIII, 1952: 103; J. Rai, *The Rural-Urban Economy and Social Changes in Ancient India*, Delhi, 1974: 165ff.

जन्म स्थान	आवृति	प्रतिशत
नगरीय	1289	95.74
ग्रामीण	0086	06.26
योग	1375	100.00

तालिका 2: विनय **तथा** सुत्त पिटक **में वर्णित व्यक्तियों के मूल निवास स्थान।**

जातकों में बोधिसत्त्व ने 315 बार मनुष्य रूप में जन्म लिया था और इनमें 51 अवस्थाओं में बोधिसत्त्व के जन्म स्थान के बारे में जानना सम्भव नहीं है। शेष 264 जन्मों में उन्होंने 223 बार (84.7 प्रतिशत) नगरीय स्थानों में तथा केवल 41 बार (15.53 प्रतिशत) ही ग्रामीण स्थानों में जन्म लिया। बौद्ध धर्म का नगरीय चरित्र तालिका–2 से अधिक सत्यापित होता है। पालि विनय और सुत्त पिटक में वर्णित सभी व्यक्तियों में से 1375 व्यक्तियों की मूल पृष्ठभूमि की जानकारी उपलब्ध है। इनमें से 1289 व्यक्ति, जो कि कुल का 93.74 प्रतिशत हैं नगरीय स्थानों से आते हैं जबकि मात्र 86 व्यक्ति, जो 6.26 प्रतिशत हैं, ग्रामीण स्थानों से। आगे तालिका–3 भी इस तर्क की पुष्टि करती है। बोधिसत्त्व के 229 जन्मों में, जिनमें कि बोधिसत्त्व की व्यावसायिक पृष्ठभूमि उपलब्ध है, केवल 32 बार अर्थात् 14 प्रतिशत से भी कम बार उन्होंने या तो निम्न व्यावसायिक वर्ग में जन्म लिया या उसे ग्रहण किया। इसकी तुलना में 86 प्रतिशत से भी अधिक बार वे या तो राजा/राजकुमार, या धनी व्यवसायी या फिर उच्च राज्य अधिकारी हैं। जातकों के साथ–साथ पालि विनय तथा सुत्त पिटक के अन्य ग्रन्थों में भी उच्चवर्गीय व्यवसाय, नगरीय पृष्ठभूमि

तथा इनकी चारित्रिक विशिष्टता को वरीयता देना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।[78]

व्यवसाय	आवृति	प्रतिशत
राजा/राजकुमार	86	37.55
व्यवसायी/धनी व्यक्ति	57	24.89
उच्च अधिकारी	54	23.58
निम्न व्यवसाय	32	13.98
योग	229	100.00

तालिका 3ः बोधिसत्त्वों की व्यावसायिक पृष्ठभूमि

पालि त्रिपिटक ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहाँ नगरीय ऐष्वर्य तथा तड़क–भड़क की प्रशंसा की गई है। विशेषकर उनकी सुस्पष्ट शब्दों में प्रशंसा की गई है जो बड़े पैमाने पर संघ को दान देने की स्थिति में थे। सैद्धान्तिक रूप से बुद्ध ने सांसारिक सुख को छोड़ने का उपदेश दिया था, परन्तु व्यावहारिक रूप से बौद्ध भिक्षुओं की जीवन–शैली ने सामान्य जनता के दिलों में ईर्ष्या का भाव ही पैदा किया। यह तथ्य उस नौजवान व्यक्ति की कहानी से प्रमाणित हो जाता है जो यह सोचकर भिक्षु बन गया कि “अपने हाथों से हर प्रकार के कार्यों को पूरा करने के लिए मैं दिन–रात परिश्रम करता

[78]विस्तृत जानकारी के लिए देखें, K.T.S. Sarao, *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, Delhi: R&R Publishers, 1999: Appendices III & IV.

हूँ, फिर भी मैंने ऐसा स्वादिष्ट भोजन कभी नहीं चखा। मुझे अवश्य ही स्वयं भिक्षु बन जाना चाहिए।"[79]

आरम्भिक बौद्ध धर्म के सामाजिक नायक बड़े व्यापारी–साहूकार और नए षासक थे। अनाथपिण्डिक, जो कि अपने समय के धनाढ्यतम नागरिकों में से एक था, को बौद्ध धर्म द्वारा मत का उद्धारक बताया गया है। उसका घर "संघ के लिए एक ऐसे संगम स्थल के समान था, जहाँ कई सड़कें आकर मिलती हों।"[80] जातकों में बताया गया है कि अकेले अनाथपिण्डिक ने बौद्ध विहार के लिए उदारतापूर्वक 54 करोड़ कार्षापण दान में दिए थे।[81] जातकों में बोधिसत्त्व और आनन्द के बाद सबसे लोकप्रिय पात्र अनाथपिण्डिक है।[82] जेतवन में, जिसे बड़ी भारी कीमत चुकाकर अनाथपिण्डिक ने संध के लिए खरीदा था, बुद्ध ने अपने अधिकांश वस्सावास बिताए। संयुत्त निकाय का अधिकांश भाग भी यहीं उपदेशित हुआ था। जेतवन का सन्दर्भ, जैसा कि तालिका–4 में दिखाया गया है, बड़ा दिलचस्प अध्ययन प्रस्तुत करता है।

ग्रन्थ	जेतवन के उल्लेख की आवृति
विनय पिटक दीघ निकाय	196 005

[79] J.I.311.

[80] J.I.227.

[81] J.I.226.

[82] ***केवल*** *जातकों* ***में उनका नाम 66 बार आता है।***

मज्झिम निकाय	078
संयुत्त निकाय	075
अंगुत्तर निकाय	050
जातक	574

तालिका 4: विभिन्न पालि ग्रन्थों में जेतवन के उल्लेख की आवृति।

यह उल्लेख करना रुचिकर होगा कि जहाँ प्राक्–बौद्ध साहित्य लगभग एकान्तिक रूप से अपनी पृष्ठभूमि को ग्रामीण परिवेश में रखता है, वहीं प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य नई नगरीय संस्कृति को अभिव्यक्त करता है। यह बड़ी विचित्र बात है, वस्सावास की संस्था, जिसने मठ (आवास) की संस्था का निर्माण किया, ने उसी का समाजीकरण कर दिया, जो मुख्य तौर पर एक असामाजिक आन्दोलन के रूप में आरम्भ हुआ था।[83] इसके अतिरिक्त आरम्भिक बौद्ध अभिजात्यवर्ग (early Buddhist élite) ने स्पष्ट रूप से धन एवं तड़क–भड़क के लिए अपनी दुर्बलता को दर्शाया था। उनमें से ज्यादातर, यहाँ तक कि स्वयं बुद्ध, ने अधिकांश समय नगरीय केन्द्रों के आसपास ही बिताया। दो अलग सांख्यिकीय अध्ययनों[84] में यह

[83]Curiously enough, the institution of *vassāvāsa* (rainy retreat) which created the institution of the monastery (*āvāsa*) led to the *socialization* of what had begun primarily as an asocial movement. (B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982): 8.)

[84]***पहला सांख्यिकीय अध्ययन गोखले ने किया था। देखें,*** B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982). ***दूसरा सांख्यिकीय अध्ययन इस पुस्तक के लेखक ने किया था। लेखक ने इस अध्ययन में*** विनय पिटक, दीघ निकाय,मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय एवं

पाया गया है कि नगरीय केन्द्रों के सन्दर्भ की आवृत्ति ग्रामीण केन्द्रों की अपेक्षा बहुत ही अधिक थी।[85] विनय तथा सुत्त पिटक से एकत्रित किए गए 1009 स्थानों के नामों में जहाँ सुत्त का उपदेश दिया गया या कोई नियम बनाया गया, उनका अलग–अलग विवरण इस प्रकार पाया गया है:[86]

बस्ती	आवृति	प्रतिशत
श्रावस्ती	593	58.77
राजगृह	140	13.87
कपिलवस्तु	056	05.55
वैशाली	038	03.76
कौषाम्बी	015	01.46
अन्य शहर तथा गाँव	167	16.57

तालिका 5: विभिन्न स्थानों पर दिए गए सुत्तों **/नियमों की आवृति ।**

जैसा कि तालिका–5 में देखा जा सकता है, अकेले पाँच नगरों में ही 83.43 प्रतिशत सुत्तों का उपदेश हुआ था जबकि शेष 16.57 प्रतिशत, 76 अलग स्थानों पर उपदिष्ट हुए थे, जिनमें ग्रामीण केन्द्रों के अतिरिक्त निश्चित रूप से नगरीय केन्द्र भी शामिल थे।

जातक ***में उपलब्ध सूचना के आधार पर विभिन्न परिशिष्ट तैयार करके अपनी परिकल्पना को सिद्ध करने का प्रयास किया है। देखें,*** K.T.S. Sarao, *Op. Cit.*, 1996: Appendices III and IV.

[85]B.G. Gokhale, *Op. Cit.*(1982): 11.

[86]B.G. Gokhale, *Op. Cit.*(1982): 10 के आधार पर।

अगली तालिका[87] इस तर्क को और भी प्रमाणित करती है। नगरीय बस्तियों का सन्दर्भ ग्रामीण बस्तियों की तुलना में अत्यधिक हैः

बस्ती के प्रकार	आवृति	प्रतिशत
नगरीय	4257	95.37
ग्रामीण	0208	04.67
योग	4465	100

तालिका 6ः नगरीय और ग्रामीण बस्तियों का ग्रन्थों में सन्दर्भ।

विनय एवं सुत्त पिटक में वर्णित 2426 स्त्रियों एवं पुरुषों[88] में से 1379 की ग्रामीण/नगरीय पृष्ठभूमि निश्चित की जा सकती है। इनमें से 1291 अर्थात् 93.62 प्रतिशत नगरीय पृष्ठभूमि से थे तथा मात्र 88 अर्थात् 6.38 प्रतिशत को कहा जा सकता है कि ये ग्रामीण केन्द्रों से थे। निम्नांकित तालिका में अंकित तथ्य भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैंः

बस्ती	**व्यक्तियों की कुल संख्या**	**प्रतिशत**
वाराणसी	***2ण73165109055मं86***	22.92
श्रावस्ती		13.85
राजगृह		09.15
कपिलवस्तु		04.70
वैषाली		03.53
मिथिला		03.19
उज्जैन		01.51
हंसवती		01.43
कौषम्बी		01.26

---

[87]यह तालिका K.T.S. Sarao, *Op. Cit.*, 1996: Appendices II के आधार पर तैयार की गई है।

[88] ***देखें***, K.T.S. Sarao, *Op. Cit.*, 1999: appendices IVa and IVb.

उज्जयिनी		01.18
काम्पिल्य		01.18
चम्पा		01.09
कुषीनगर		00.92
साकेत		00.84
इन्दप्रस्थ		00.84
सागल		00.76
अनोमा		00.76
दन्तपुर		00.67
भद्दिय		00.59
भरूकच्छ		00.59
तक्षषिला		00.50
अरिष्ठपुर		00.50
अरुणवती		00.50
पावा		00.42
मधुरा		00.42
पाटलिपुत्र		00.42
देवदह		00.42
सुमंगल		00.42
अन्य बस्तियाँ		25.44

तालिका 7ः विभिन्न बस्तियों से आने वाले व्यक्ति।

जैसा कि देखा जा सकता है, ऊपर के केवल पहले पाँच नगरों से ही 54 प्रतिशत से अधिक स्त्री और पुरुष, जिनका उल्लेख विनय तथा सुत्त पिटक में हुआ है, आए थे। बौद्ध ग्रन्थों[89] में वर्णित छः महानगरों, यानि वाराणसी, राजगृह, वैशाली, चम्पा, कौषाम्बी तथा साकेत से ही 40 प्रतिशत से अधिक लोग आए थे जबकि 62.72 प्रतिशत स्त्री और पुरुष जो कि किसी न किसी रूप से बौद्ध धर्म से जुड़े थे, ऊपर की दस नगरीय बस्तियों से आए थे।

ग्रन्थ	नगरीय	प्रतिशत	ग्रामीण	प्रतिशत
विनय पिटक	098	87.50	14	12.50
अंगुत्तर निकाय	132	88.00	18	12.00

[89]D.II.146.

दीघ निकाय	065	73.88	19	22.62
मज्झिम निकाय	090	84.11	17	15.89
संयुत्त निकाय	111	79.86	28	20.14
सुत्त निपात	130	85.72	05	14.28
जातक	561	95.89	24	04.11
थेर–थेरीगाथा	242	89.63	27	10.37
चरियापिटक	019	90.48	02	09.52
अपदान	326	94.77	18	05.23
बुद्धवंस	125	100.00	00	00.00
उदान	020	80.00	05	20.00
पेतवत्थु	019	90.48	02	09.52
विमानवत्थु	017	94.44	01	05.54

तालिका 8ः ग्रन्थ के अनुसार नगरीय बनाम ग्रामीण पृष्ठभूमि के विभिन्न व्यक्ति।

बुद्ध के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने कम से कम 25 वर्षावास अकेले श्रावस्ती में बिताए थे जिनमें से 19 प्रसिद्ध जेतवन तथा अन्य छः पुब्बाराम[90] में। बुद्ध का बार–बार श्रावस्ती वापस आने का एक स्पष्ट कारण संभवतः शक्तिशाली संरक्षकों, यथा– अनाथपिण्डिक तथा राजा प्रसेनजित एवं साथ ही साथ नगर में अत्यधिक मात्रा में व्यापार तथा इसकी नागरीयता रहे होंगे।[91] व्यापारी–साहूकारों तथा राजाओं के नए शक्तिशाली वर्ग ने साथ मिलकर इस आन्दोलन को एक अलग पहचान दी। आरम्भिक भारतीय बौद्ध धर्म ने इन वर्गों से मुख्य सामाजिक सहायता प्राप्त की, तथा बदले में, उनके सामाजिक और आध्यात्मिक भावनाओं को प्रतिबिम्बित किया। इन वर्गों को एक नई

---

[90]देखें, DPPN.II.1126-27.

[91]B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982): 12f.

आध्यात्मिक–सामाजिक अवस्थिति तथा मूल्य–व्य***वस्था की आवश्यकता थी, जिसे बौद्ध धर्म ने वैदिक ब्रह्मज्ञानए पुजारी के वर्चस्व का विरोध कर तथा अप्रत्यक्ष रूप से सूदखोरी की प्रथा, वेश्यावृत्ति आदि को सहयोग देकर, प्रदान की।[92] इन्हीं वर्गों की*** मूल्य–प्रणाली में वर्ण–जाति की अपेक्षा व्यक्ति (तथा उसका परिवार) केन्द्र–बिन्दु था और बुद्ध ने ऐसे ही मूल्यों को अभिव्यक्ति प्रदान की।[93] भारतीय सामाजिक इतिहास में बुद्ध को पहले महान सुधारक के रूप में चित्रित करना एक अत्यधिक सामान्य–सी बात होगी।[94] संघ में प्रवेश के मामले में तथा संघ के अन्दर व्यक्तिगत व्यवहार में बुद्ध ने निश्चय ही जाति–भेद की अवहेलना की, परन्तु इसके बाहर उनका रवैया द्वैधवृत्तीय नहीं तो तथ्यात्मक था।[95] जहाँ बौद्ध यह दावा करते हैं कि व्यक्ति की मुक्ति की संभावनाओं से

---

[92]These classes needed a new spiritual-social orientation and value-system which Buddhism provided with its opposition to Vedic theology, the dominance of the priest and by supporting indirectly money-lending, prostitution etc.

[93]In the value system of these classes, the individual (and his family) rather than the *vaṇṇa-jāti* was the centerpiece, and the Buddha articulated such values.

[94]Portraying the Buddha as the first great reformer in Indian social history is a gross oversimplification.

[95]The Buddha did ignore caste distinctions in the matter of admission into and treatment of individuals within the Saṃgha, but outside it, his attitude was pragmatic, if not ambivalent. (B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982): 12f.)

उसकी जाति का कोई लेना–देना नहीं है वहीं वे दैनिक जीवन में जाति–व्यवस्था के प्रचलन पर कोई प्रहार नहीं करते, जैसा कि आम तौर पर माना जाता है।[96] यहाँ तक कि बुद्ध ने सम्बोधन के तरीकों द्वारा भी सामाजिक स्थिति में भेद को स्वीकृति प्रदान की है।[97] हमें यह बताया गया है कि बुद्ध केवल खत्तिय (क्षत्रिय) या ब्राह्मण परिवारों में ही जन्म लेते हैं न कि किसी अन्य जाति में।[98] बुद्ध अपने समय में प्रचलित वर्ण–जाति शब्दावली का प्रयोग विद्यमान समाज के सन्दर्भ में करते हैं और केवल क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊपर वर्गीकृत करने की चेष्टा करते हैं।[99] उन्होंने ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों की पवित्रता तथा सामाजिक सर्वश्रेष्ठता जैसे आडम्बरों की खिल्ली उड़ाई और इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति को उसकी पारिवारिक, जातिगत या समाजिक उत्पत्ति की अपेक्षा उसके व्यक्तिगत गुणों द्वारा आँका जाना चाहिए। दर असल यह माँग उन नए नगरीय सामाजिक वर्गों की थी जो स्वयं को पारम्परिक ब्राह्मण अधिकृत याज्ञिक कर्मकाण्डों से युक्त वैदिक धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म अधिक निकट

---

[96]When the Buddhists maintained that a person's *jāti* had no bearing on his chances of salvation, they did not attack the operation of the caste system in daily life, as generally believed.

[97]Even through his choice of greetings, the Buddha recognized differences in social standing.

[98] ***देखें***, DPPN.II.324.

[99]The Buddha used the *vaṇṇa-jāti* terminology of his times in his reference to existing society and only tended to rank the khattiyas higher than the brāhmaṇas.

मानते थे।[100] ये वर्ग संदिग्ध तत्त्वमीमांसा (speculative metaphysics) में अधिक रुचि नहीं रखते थे क्योंकि उनका जोर, इस लोक में व्यावहारिक तथा प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित मामलों के समाधान पर था तथा परलोक में अपनी भलाई निश्चित करने हेतु था। यह कुछ हद तक आरम्भिक बौद्ध आन्दोलन के सापेक्षतया अतत्त्वमीमांसीय झुकाव को व्याख्यायित करता है।[101] श्रावस्ती, तथा राजगृह जैसे नगरीय केन्द्रों में बिम्बिसार, जीवक, अजातशत्रु जैसे समर्थक आरम्भिक बौद्ध धर्म की सफलता में राजसी तथा अधिकारीतन्त्र द्वारा दिए गए संरक्षण के महत्त्व को द्योतित करते हैं। विस्तृत व्यापार, व्यापारिक पूँजी का जमा होना तथा व्यापारियों एवं साहूकारों के शक्तिशाली वर्ग के उदय ने नए नैतिक मूल्यों तथा धार्मिक दर्शन, जो महत्त्वपूर्ण रूप से प्राचीन वैदिक धर्म में निहित दर्शन से भिन्न स्वभाव का हो, की खोज करने वाले वर्ग को जन्म दिया।[102]

---

[100] He ridiculed brāhmaṇical pretensions to ritual purity and social eminence and insisted that a person be judged by his individual virtue rather than his familial, class or social origins, which was precisely the demand of the new urban social classes who felt closer to Buddhism than the traditional brāhmaṇical sacrifice-dominated Vedic cults. (B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982): 19.)

[101] This, in part, may explain the relatively a-metaphysical predilection of the early Buddhist movement)।(B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982): 13.)

[102] B.G. Gokhale, *Op. Cit*.(1982): 17.

बुद्ध के जीवनकाल तथा उनकी मृत्यु के कुछ समय बाद तक बौद्ध धर्म ने उपासकों के साथ विस्तृत तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध बनाए रखा। परन्तु मौर्य साम्राज्य के अन्त के करीब बौद्ध धर्म निश्चित तथा सुसंपन्न विहारों में केन्द्रित होता हुआ प्रतीत होता है, जिसने आरम्भ में व्यापारी–उपासकों का सहयोग प्राप्त किया परन्तु बाद में अत्यधिक रूप से राजसी दानों पर निर्भर हो गया। इन विहारों ने आगे चलकर अपने तरीके की सामन्तवादी प्रवृत्ति ग्रहण कर ली। साहित्यिक साक्ष्य के अतिरिक्त शिलालेखीय साक्ष्य भी इस तथ्य को उजागर करते हैं तथा बौद्ध प्रतिष्ठानों के दान–दाताओं के नाम शिल्पसंघों के मुखियों द्वारा दी गई ठोस सहायता को सत्यापित करते हैं। बौद्ध विहारों की सामन्तवादी शैली को भारतीय अर्थव्यवस्था तथा समाज के सामन्तीकरण की निरन्तरता ने और अधिक बल प्रदान किया। कुछ विख्यात बौद्ध विहारों ने अपनी मुहरें और मुद्राएँ जारी कीं।[103] कालान्तर में इस प्रकार के बौद्ध विहारों ने विभिन्न प्रकार की अपनी निजी सम्पत्ति बना ली तथा इसने न केवल आत्मनिर्भरता को प्राप्त किया बल्कि वे जमीन, गाँव, चराहगाह, पशुओं आदि के स्वामित्व द्वारा सम्बन्धित इलाकों में अपनी शक्ति तथा प्रभाव स्थापित करने की स्थिति में भी थे।[104] इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म ने बढ़ते नगरीकरण को सैद्धान्तिक

[103] P. Niyogi, "Organisation of Buddhist Monasteries in ancient Bengal and Bihar," *Journal of Indian History*, LI (3), 1973: 539.

[104] ***वही***. 535.

अधिरचना प्रदान की[105] तथा अपनी खुद की समृद्धि के लिए इस पर उसकी निर्भरता और भी बढ़ती गई।[106]

[105]D.D. Kosambi, *Op. Cit*. (1973): 100-104.

[106]Buddhism provided the ideological superstructure of the growing urbanization and depended increasingly upon it for its own growth.

3

अहिंसा का सिद्धान्त

ऐतिहासिक भारत में अहिंसा के सिद्धान्त का प्रयोग प्रथम बार उपनिषदों के लेखकों द्वारा वैदिक यज्ञों की क्रूरता के सम्बन्ध में किया गया।[1] *यहीं से शाकाहार का सिद्धान्त विकसित हुआ। पाँचवीं सदी ई॰पू॰ में बुद्ध ने बल देकर इसकी वकालत कर अपनी मुख्य शिक्षाओं में शामिल किया, सैद्धान्तिक आधार प्रदान किया तथा इसे अतुलनीय अच्छाई बताया। चक्र के निशान को जो धर्म–युद्ध का (प्रायः रथ के पहिए के रूप में) प्रतीक था, को धर्म–शान्ति के प्रतीक चिह्न (धर्मचक्र) में परिवर्तित करके बौद्ध धर्म ने अहिंसा के क्षेत्र में मौलिक योगदान दिया।*[2] *बौद्ध अहिंसा अन्तर्दृष्टि को विविध क्षेत्रों, जैसे कि पर्यावरणीय आचारसंहिता, दैनिक जीवन, अन्य प्राणियों से सम्बन्ध तथा उनके प्रति नैतिक विचार, एवं समाज में किनारे कर दिए गए वर्गों की दशा को समझने की आवश्यकता, में निश्चित रूप से लागू किया जा सकता है। आरम्भिक भारतीय बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में हिंसात्मक क्रियाकलापों को मोटे तौर पर निम्नलिखित चार श्रेणियों में रखा जा सकता है–*

1. *संगठित झगड़ों, जैसे युद्ध, लड़ाइयाँ आदि तथा असंगठित झगड़ों, जैसे हत्या, आत्महत्या, गर्भपात तथा ऐच्छिक मृत्यु आदि द्वारा होने वाली हिंसा।*
2. *याज्ञिक कर्मकाण्डों में जिनमें पशु–बलि तथा कभी–कभी*

---

[1]***अथ यत् तपो दानम् आर्जवम्* अहिंसा *सत्य–वचनम् इति, ता अस्य दक्षिणाः** *(छान्दोग्य उपनिषद्*.III.17.4*)*.

[2]Christopher S. Queen, "The Peace Wheel: Nonviolent Activism in the Buddhist Tradition," D.L. Smith-Christopher (ed) *Subverting Hatred: The Challenge of Nonviolence in Religious Traditions*, Boston: Boston Research Center for the 21st Century, 1998:25-28.

मनुष्य की बलि दी जाती थी, द्वारा होनेवाली हिंसा।

3. शिकारियों, कसाइयों, मछुआरों आदि के हाथों होनेवाली हिंसा, जो मनुष्य के भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं– विशेषकर औषधि के उद्देश्य से की जाती थी। इस प्रकार, मनुष्य द्वारा मांस तथा मछली खाना हिंसा का महत्त्वपूर्ण अनुक्रम था।
4. कृषि कार्यों तथा इससे सम्बन्धित अन्य क्रियाकलापों जैसे खुदाई, सिंचाई, खेतों की जुताई, फसलों, घास और वृक्षों की कटाई तथा एक–इन्द्रिय जीवों, जो पौधों, वृक्षों, मिट्टी आदि में निवास करते थे, को नष्ट किए जाने जैसे क्रियाकलापों द्वारा होने वाली हिंसा।

हम ऐसी दुनिया में जी रहे हैं, जहाँ एक–दूसरे को किनारे करके ही जीवन को कायम रखा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में एक या दूसरे प्रकार की हिंसा से बचाना संभव नहीं है। जीवित रहने के लिए खाना आवश्यक होता है तथा उसके लिए हममें से अधिकांश अपना भोजन विभिन्न प्रकार के पशुओं तथा जलीय जीवों से प्राप्त करते हैं। कुछ लोग ऐसी हिंसा से बचने के लिए शाकाहारी भोजन लेते हैं। तथापि कुछ लोगों का विश्वास है कि पौधों में भी जीवन होता है, और उनकी मान्यता के अनुसार पौधों से भोजन प्राप्त करने को भी जीवन जीने का सही तरीका नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, किसी अन्य द्वारा हमला किए जाने पर, आत्मरक्षा में की गई हिंसा का प्रश्न खड़ा होता है। तब, विभिन्न प्रकार के कीड़े–मकोड़ों तथा मक्खी–मच्छरों को बड़ी मात्रा में लगातार नष्ट किए जाने का प्रश्न उठता है, क्योंकि वे हानिकारक जीवाणुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते हैं। बीमारियों से ठीक होने के लिए ली गई विभिन्न प्रकार की औषधियाँ भी शरीर में स्थित जीवाणुओं को मारती हैं। वास्तविकता यह है कि जीवाणु–सिद्धान्त (germ theory), जो आधुनिक औषधि को मुख्य आधार प्रदान करता है, विभिन्न प्रकार की जीव–हिंसा पर आधारित है। विभिन्न प्रकार की बीमारियों से मुक्ति पाने के लिए औषधियों का आविष्कार करने हेतु भी वैज्ञानिकों द्वारा जीव–जन्तुओं पर अनुसन्धान किए जाते हैं। इसलिए, यदि वास्तव में अहिंसा के सिद्धान्त का पालन

*किया जाए, तो यह कठिन होगा क्योंकि कम से कम अपने जीवन को बनाए रखने के लिए वांछित भोजन की प्राप्ति में थोड़ी बहुत हिंसा तो होगी ही अन्यथा संभवतः स्वयं भूखे मरना होगा, अर्थात् आत्महत्या करनी होगी। असल में, आत्महत्या भी तो अहिंसा के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण और परम (**perfect and absolute**) अहिंसा का पालन इस विशेष अर्थ में असंभव है।*

बौद्ध धर्म अहिंसा की मनोवृत्ति के आन्तरिक अनुभव तथा अहिंसात्मक कार्य के रूप में इसकी बाह्य अभिव्यक्ति, दोनों को दो भिन्न चीजें मानता है। इस प्रकार, बुद्ध ने अपना अहिंसा का दर्शन इस सामान्य तथ्य पर आधारित माना है कि यद्यपि अहिंसा का पूर्णतया पालन कठिन हो सकता है परन्तु हृदय में अहिंसा की मनोवृत्ति को पूर्ण तौर से उत्पन्न करना असंभव नहीं है। दूसरे शब्दों में, अहिंसा का वास्तविक पालन जीवन, जिसके प्रतिवादों को हल करना कठिन है, की सही पहचान के आधार पर ही किया जा सकता है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए बुद्ध ने अहिंसा के कार्य को अनावश्यक रूप से कठोर नियमों से आबद्ध नहीं किया। इस प्रकार का सन्तुलित तथा विवेकपूर्ण अहिंसा का सिद्धान्त मानव सभ्यता के लिए संभवतः बौद्ध धर्म की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। पालि साहित्य में इस सिद्धान्त को मुख्यतौर पर तीन प्रकार की शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है– पाणातिपाता वेरमणी, पाणातिपाता पटिविरति तथा अहिंसा। इन तीनों में से, अहिंसा अथवा अविहिंसा (अर्थात् 'हानि न पहुँचाना' या 'नष्ट न करना') का बौद्ध ग्रंथों में अधिकतम प्रयोग हुआ है। शेष दो अभिव्यक्तियाँ भी इसी अर्थ 'स्वयं को जीवों को हानि पहुँचाने या नष्ट करने से बचाना' (पाणातिपात/पाणवध/पाणघात),[3] को ही द्योतित करती हैं तथा सील सम्बन्धी विनय के नियम जो जीवित प्राणियों की

---

[3]Vin.I.83, 85, 193; D.I.4, III.68, 70, 149, 182, 235; M.I.361, III.23; Sn.242; KhA.26; It.63; J.III.181; Pug.39, DhA.II.19, III.355; DA.I.69; PvA.27f, 33.

हिंसा तथा उनको नष्ट न करने (पाणं अतिमापेति)[4] *से सम्बन्धित हैं, के लिए प्रयुक्त हुई हैं। यहाँ वेरमणी (अलग रहना/परहेज करना) तथा पटिविरति (रोकना/निरोध करना) शब्दों का प्रयोग एहतियाती प्रयास तथा इच्छाशक्ति के प्रयोग (**precautionary endeavour and the application of will**) के विशिष्ट रूप में हुआ है। इच्छाशक्ति का प्रयोग दुष्ट चीजों के प्रति झुकाव (जैसे, किसी भी रूप में जीव–हिंसा) से बचने का द्योतक है। जब यह दृढ़ निश्चय कर लिया जाता है, 'मैं जीव–हिंसा न करने के सिद्धान्त का पालन करूँगा', तब सील जैसी स्वयं प्रकट होनेवाली (**self-actualizing**) प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। एक बच्चा हिंसा नहीं करता लेकिन इसके बावजूद यह सील नहीं है। इसका कारण यह है कि बच्चा इस तथ्य से अनजान है कि वह जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं कर रहा है। इसी प्रकार, यह नहीं कहा जा सकता कि कोई सील का पालन इसलिए करता है क्योंकि वह जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करता। इस प्रकार, अहिंसा का तात्पर्य है– जान–बूझकर (**deliberately**) जीवित प्राणियों के घात से बचना। दूसरे शब्दों में, एक बौद्ध धर्मानुयायी से आशा की जाती है कि उसे न केवल हिंसा नहीं करनी चाहिए बल्कि दूसरों को भी हिंसा के लिए नहीं उकसाना चाहिए।*

जीवित प्राणियों के प्रति अहिंसा, जो कि बौद्ध धर्म का प्रथम शिक्षापद है,[5] *संपूर्ण प्रकृति में पाए जाने वाले आपसी आकर्षण तथा अच्छाई के सिद्धान्त पर आधारित है। जान–बूझकर हिंसा करने का तात्पर्य है, अन्तर्निहित अखण्डता (**inherent wholeness**) को बाधित और नष्ट करना तथा सम्मान और करुणा, जो कि मानवता के आधार हैं, की भावनाओं को कुण्ठित करना। सचमुच, यह शिक्षापद जीवन तथा*

---

[4]D.I.52.

[5]***अन्य चार शिक्षापद हैं– 2. जो दिया नहीं, वह न लेना; 3. गलत कामवासना में लीन न होना; 4. झूठ न बोलना; 5. दूसरों को उन पदार्थों का प्रयोग करने को न उकसाना या स्वयं न करना जो मन को उलझाते या कमजोर करते हैं।***

सृष्टि को आमंत्रित तथा मृत्यु और विनाश की निन्दा करता है। जान–बूझकर हत्या करना, चाकू मारना, गला दबाना, डुबो देना, कुचलना, जहर देना, जला देना या अन्य तरीके से किसी मनुष्य या जानवर को पीड़ित करना– यह शिक्षापद केवल इन सब तरीकों से ही दूषित नहीं होता। किसी को किसी जीवित प्राणी को मारने, प्रताड़ित करने या हानि पहुँचाने के लिए उकसाना भी प्रथम शिक्षापद का उल्लंघन करना है। हालाँकि हिंसा वचनों, मन व कार्यों (***words, thinking and deeds***) *द्वारा की जा सकती है, प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म ने मुख्य रूप से कार्यों द्वारा की गई हिंसा की ओर अधिक ध्यान दिया था। विभिन्न प्रकार के यज्ञ एवं बलियाँ, विशेषकर वे जिनमें पशुओं की बलि चढ़ाई जाती थी, बुद्ध द्वारा उन्हें न केवल हास्यास्पद एवं निरर्थक बताया गया है बल्कि अक्षम्य क्रूरता भी। एक ओर उन्होंने यज्ञों की उपादेयता को नकारा, वहीं दूसरी ओर जीवित प्राणियों के जीवन का अत्यंत सम्मान भी किया। उनके अनुसार, "सभी जीवित प्राणियों में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।"[6] "वह यज्ञ... (जिसमें)... जीवित प्राणियों का वध होता हो... न तो ज़्यादा फलदायक होती है (और) न ही अत्यधिक लाभदायक, न ही प्रसिद्धि वाली होती है, (और) न ही विस्तृत प्रभाव वाली। यह वैसा ही है जैसे कि कोई किसान हल एवं बीज लेकर किसी जंगल में प्रवेश करे, और वहाँ अनजुते खेत, प्रतिकूल मिट्टी जिसमें कटे पेड़ों के ठूँठ हों, वहाँ वैसे बीज बोए जो टूटे, गले, हवा तथा गर्मी से सड़ गए हों, जब मौसम उचित न हो, दशा ठीक न हो और देव भी उचित मौसम में अच्छी वर्षा न करे।"[7] साम×ञफल सुत्त में हमें बताया गया है कि "भिक्षु, जीवित प्राणियों की हिंसा को छोड़कर, जीवन को नष्ट करने से स्वयं को अलग रखता है। वह लाठी और तलवार अलग रख चुका है, तथा कठोरता से शर्मिंदा एवं दया से ओत–प्रोत, वह उन सभी जन्तुओं के प्रति, जिनमें जीवन*

---

[6]GS.II.183.

[7]DB.II.307f.

है, सहृदयता एवं दया से रहता है।"[8]

अहिंसा के अभ्यास का आधार दया, हितकामना (हितानुकम्पा) तथा जीवित प्राणियों की हिंसा तथा हानि पहुँचाने जैसी क्रूरता से लज्जा अनुभव करना है। इस प्रकार से बौद्ध धर्म में अहिंसा का करुणा तथा लज्जा से एकीकरण कर दिया गया है। जहाँ कहीं किसी दिल में करुणा है, वह बाहरी तौर पर अहिंसा के कार्य के रूप में अभिव्यक्त होती है। अहिंसा एक भव्य कार्य माना जाता है क्योंकि यह न केवल जिसके लिए किया जाता है उसे, बल्कि उसके लिए जो इसका पालन करता है, सुखद परिणाम देता है। दूसरी ओर, जो घृणा करते हैं, न केवल दूसरे को हानि पहुँचाते हैं बल्कि स्वयं को भी दुःखी करते हैं।[9] *जीवित प्राणियों की हिंसा एक शर्मनाक तथा गलत कार्य है क्योंकि यह करुणा की भावना के विरुद्ध है। तथापि, जब कोई अहिंसा का पालन करता है तब वह प्रेम की सच्ची भावना का अनुभव करता है तथा सुख पाता है। इस प्रकार के सुख की प्राप्ति को आध्यात्मिक रूप से अत्यन्त उदात्त अवस्था कहा जाता है।*[10] *इस प्रकार, अहिंसा में आनन्दित होना*

---

[8]DB.I.79. ***इसी प्रकार,*** *धम्मपद* ***के एक श्लोक (275) में बताया गया है कि "भद्र, जीवित जन्तुओं की हत्या से नहीं, बल्कि उन सबके प्रति अहिंसा से बना जाता है।"*** *(न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति, अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो'ति पवुच्चति।)*

[9]***"इस दुनिया में घृणा कभी भी घृणा से समाप्त नहीं होती। प्यार भरी दया से इस का अन्त होता है।"*** *(धम्मपद.5).* ***"जो हत्या नहीं करता, न ही हत्या करने को कहता है, जो लूटता नहीं, न ही दूसरों को लूटने को कहता है, अपने हृदय में सबके लिए स्थान रखता है, वह किसी से धृणा नहीं करता।"*** *(GS.IV.104.)*

[10]***"जो ऋषि किसी को हानि नहीं पहुँचाता, स्वयं पर नियंत्रण रखता है, वह हमेशा के लिए ऐसी जगह चला जाता है, जहाँ जानेवाले जा कर नहीं पछताते।"*** *(धम्मपद.225);* ***"गौतम के शिष्य सदा पूरे जागृत रहते हैं, दिन और रात उनके मन अहानिकारकता का आनन्द लेते हैं।"*** *(धम्मपद.300);* ***"मैं सबका दोस्त***

तथा मैत्रीपूर्ण चित्त की भावना पैदा करना (मेत्ताचित्त–भावना) एक समान ही हैं। अतः मैत्रीपूर्ण चित्त का विकास तभी संभव है जब सभी जीवित प्राणियों की खुशी, सुख तथा भलाई की कामना की जाए। बौद्ध धर्म में अहिंसा को इस अर्थ में बताया गया है कि सभी व्यक्ति अपने जीवन से प्यार करते हैं और किसी अन्य से हानि पहुँचने या मारे जाने की इच्छा नहीं रखते हैं। आत्मरक्षा तथा स्वयं से प्यार की इस भावना को अन्य व्यक्तियों के चिन्तन में हस्तांतरित किया जाता है और इस प्रकार जीवन की रक्षा तथा जीवन से प्यार को प्रोत्साहित किया जाता है। उदाहरण के लिए, धम्मपद इसी विचार को दुहराते हुए कहता है कि जैसे सभी मृत्यु से डरते हैं, वैसे ही दूसरों की तुलना स्वयं से करते हुए किसी की न तो हिंसा करनी चाहिए और न ही हिंसा का कारण बनना चाहिए।[11]

अहिंसा का अनुपालन व्यक्ति को प्रेम का सच्चा अनुभव कराता है और इससे सुख की प्राप्ति होती है, और इसके अतिरिक्त इस सुख को आध्यात्मिक रूप से अतिरेक आनन्द की अवस्था माना जाता है। करुणायुक्त हृदय के विकास का तात्पर्य है यह इच्छा व्यक्त करना कि सभी जीवित प्राणी सुख, शान्ति तथा कल्याण की अवस्था को प्राप्त करें तथा तब अपने अन्दर असंख्य तथा अनन्त प्रकार के जीवों के प्रति करुणा उत्पन्न करें, तथा इस प्रकार, सभी जीवों को करुणा के चिन्तन की परिधि में लाएँ। इसे ही अपरिमेय मैत्री (मेत्ता–अप्पम×ञा) से युक्त मन कहा गया है। पुनः, यह तथ्य कि अहिंसा का आधार मैत्रीयुक्त मन है, मन की मुक्ति के सिद्धान्त से मन की शक्ति (मेत्ता–चेतोविमुत्ति) के द्वारा इसका विलय भी हो जाता है। इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि मैत्रीयुक्त मन के विकास द्वारा मन को शान्ति मिलती है तथा इस प्रकार साधक मुक्ति को प्राप्त करता है। बौद्ध धर्म में अहिंसा इस

हूँ, सब का साथी, सभी जीवों के लिए दयालु और सहृदय, मैं मैत्रीपूर्वक हृदय का पोषण करता हूँ, सदा सद्भावना में मुझे आनन्द आता है।*" *(थेरीगाथा.*648*).

[11] *धम्मपद*.129.

नैतिक नियम कि प्रत्येक को सभी जीवित प्राणियों से प्रेम करना चाहिए, तक ही सीमित नहीं है। यह इसके बहुत आगे भी जाता है तथा धार्मिक अर्थ में स्वीकार करता है कि इसके अनुपालन से बुद्धत्व के उच्चतम शिखर को प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए, बौद्ध धर्म में अहिंसा का अभ्यास कई प्रकार से बताया गया है। उदाहरण के लिए, आर्य आष्टांगिक मार्ग में सम्यक् कर्म (सम्माकम्मन्त) की व्याख्या अहिंसा के रूप में की जा सकती है।[12] पुनः, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दसकुसलकम्मपथ (दस कुशल कर्मों का मार्ग) में प्रथम सोपान है, जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करना।[13] इसी प्रकार, जब बुद्ध ने सिंगालिक को एक उपासक के हर रोज के सही व्यवहार का उपदेश दिया तो पहला सिद्धान्त जो व्याख्यायित किया गया, वह था, जीवित प्राणियों की हिंसा न करना।[14]

उपासकों और उपासिकाओं से जिस पंचशील के पालन को कहा गया है उनमें पहला है जीव हिंसा से बचना (पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं) । इसके परिणामस्वरूप उपासक और उपासिकाएँ जीवित प्राणियों की हिंसा से बचने का प्रयास न केवल मानसिक रूप से करते हैं, बल्कि इसे कार्यरूप में भी परिणत करते हैं। मानसिक रूप से जागरूक होने के बावजूद, यदि कोई व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष जीवन में किसी विशेष अवसर पर इसका पालन नहीं करता है तब शिक्षापद का उल्लंघन माना जाता है। इस शिक्षापद के इस प्रकार से उल्लंघन का अर्थ है अहिंसा के प्रति दृढ़संकल्प होते हुए भी, इस संकल्प का विरोध करनेवाली स्वार्थी इच्छाओं का बहुत ही शक्तिशाली होना। इस प्रकार की परिस्थितियों में, अप्रत्याशित रूप से इस शिक्षापद के उल्लंघन के लिए पश्चात्ताप होता है तथा इस प्रकार इसकी स्वीकृति (पटिदेसना) की जाती है। तथापि, यह स्वीकृति निश्चित रूप से हृदय से होनी चाहिए। बौद्ध धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त की महत्ता को इस तथ्य से

---

[12]M.III.251.

[13]D.III.269.

[14]D.III.181.

*भी मापा जा सकता है कि अहिंसा के सिद्धान्त को आठ शिक्षापदों (अट्ठंगिक उपोसथ) में शामिल किया गया है, जिसका बौद्धों द्वारा महीने के चार दिनों के उपवास (उपोसथ) के अवसर पर पालन किया जाता है। सामणेर तथा सामणेरी के लिए विहित दस शिक्षापदों में भी पहले शिक्षापद के अन्तर्गत इसे अन्तर्निहित किया गया है। जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करने का विस्तृत विवरण पातिमोक्ख में, भिक्षु तथा भिक्षुणिओं के विनय में दिया गया है। पातिमोक्ख के अन्तर्गत पाराजिक के तीसरे नियम के अनुसार एक भिक्षु या भिक्षुणी को हत्या करने के अपराध में संघ से निष्कासित कर दिया जाता है, जो संघ के सदस्य के लिए कठोरतम दण्ड है। बौद्ध धर्म उस व्यक्ति की घोर निन्दा करता है "जो जान–बूझकर तथा लक्ष्य साधकर (इतिचित्तमनो चित्तसंकप्पो) विभिन्न तरीकों से मृत्यु की अच्छाई का वर्णन करे या किसी को मृत्यु की ओर प्रेरित करे।"[15] हत्या के तरीके जो विनय में वर्णित हैं, वे भिन्न तथा अनेक हैं। इनमें हथियारों का प्रयोग, गर्त्त तथा फन्दे से लेकर अत्यधिक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक योजनाओं, जैसे, भूत का रूप धारण कर किसी को डरा कर मार डालना, तथा असफल उपचार के परिणामस्वरूप किसी की मृत्यु। चेतना (**intention**) के सन्दर्भ में, उदाहरण बताते हैं कि दोषी द्वारा अपराध किए जाने के समय अपराध उसकी मानसिक स्थिति (**mens rea**) से अच्छी प्रकार जुड़ा होता है। दोषी या निर्दोष होना इस बात पर निर्भर करता है कि कोई किसी योजना का कार्यान्वियन जिस मंशा से करता है वह उसके परिणाम से मेल खाता है या नहीं। माध्यम (**agency**) का सिद्धान्त वहाँ महत्त्व रखता है जहाँ अन्य पार्टी या व्यक्ति को मध्यस्थ के रूप में शामिल किया जाता है, जैसे कोई भिक्षु किसी अन्य को प्राणघातक हमले के लिए निर्देश देता है। सामान्य तौर पर विनय में किसी कार्य के अपराध होने के लिए चेतना आवश्यक होती है, वह अपराध अपराध नहीं होगा, यदि उसमें बुरी चेतना न हो। इसके अतिरिक्त, जैसा एन्ड्रयू हक्सले ने*

---

[15]Vin.III.73.

दर्शाया है, कुरुधम्म जातक[16] इस विचार पर जोर देता है कि कम से कम सामान्य जन के सन्दर्भ में किसी के द्वारा किसी अन्य के प्रति की गई हानि, जिसमें उसकी चेतना शामिल न हो, उसे अपराध के तौर पर नहीं गिना जाना चाहिए, तथा ऐसे विषय पर परेशान होना बुद्धिमता नहीं होगी।[17] बौद्ध धर्म गर्भपात को मनुष्य की हत्या के समान ही हत्या मानता है। आत्महत्या भी बौद्ध धर्म में मना है।[18]

पेड़–पौधों को हानि पहुँचाने पर भी रोक है[19] तथा, इस प्रकार, बुद्ध के अनुसार एक आदर्श व्यक्ति प्राणिजात तथा वनस्पति–जीवन (बीजगाम भूतगाम)[20] को हानि पहुँचाने से बचता है। उन्होंने सबसे "जीव–जन्तुओं के प्रति करुणा रखने" का आग्रह किया।[21] बुद्ध के विचार में मानवीय मनोभाव को केवल मानवों तक ही सीमाबद्ध न किया जाए बल्कि उसका विस्तार सभी सचेतन (sentient) जीवों तक हो जो करुणा के उतने ही भागी बन सकें जितने कि मानव स्वयं। बुद्ध ने समझाया कि "किसी भी जीवित प्राणी के जीवन का अन्त न किया जाए, चाहे वह कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो।"[22] यहाँ तक कि हरी घास या पानी में बचे हुए भोजन को फेंकना भी मना है क्योंकि दोनों जगह, घास या पानी में रहनेवाले जीवों को हानि पहुँच सकती है।[23] उनके अनुसार "जीव–जन्तुओं की मार–काट करना, उनके प्रति क्रूर होना,

---

[16]J.III.366-381.

[17]Andrew Huxley, "The Kurudhamma: From Ethics to Statecraft." *Journal of Buddhist Ethics, Vol. 2,1995: 191-203.*

[18]Vin.III.73, 82.

[19]*पाचित्तिय **नं॰ 10 तथा 11॰***

[20]GS.II.222.

[21]S.V.241.

[22]SBE.XVII.30; XX.128.

[23]SBE.XVII.22.

रक्तमोचन करने, उन्हें हानि पहुँचाने या उनकी हत्या करने की मंशा रखना तथा जीव–जन्तुओं के प्रति दया की भावना न रखना... (जैसी प्रवृत्तियाँ) आयु को कम करती हैं"[24] तथा उन्होंने इन्हें घृणास्पद (आमगन्ध) माना है।[25] बुद्ध ने यहाँ तक कहा कि "हमें अपने जीवन को बनाए रखने के लिए भी जान–बूझकर अन्य जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिए।"[26] भिक्षुओं को मिट्टी खोदने की अनुमति नहीं थी।[27] पानी को पीने के पहले अवश्य ही छान लिया जाना चाहिए क्योंकि इसमें जीवित प्राणी होते हैं[28] तथा वही "फल खाना चाहिए जिनमें अभी बीज न हुए हों... या... बीज न बचे हों।"[29]

वे सभी जो हत्या या निर्दयतापूर्ण आजीविका (क्रूरकम्मंत) अपनाते हैं, जैसे– कसाई, बहेलिया, शिकारी, मछुआरा, डाकू, जल्लाद तथा कारागारिक, सभी बौद्ध धर्म में हीन भाव से देखे गए हैं।[30] इसी प्रकार काटने, कोड़े लगाने, बाँधने, राजमार्ग पर डकैती तथा लूटमार जैसे व्यवसायों को हिंसापूर्ण तथा घृणित माना गया है।[31] एक कसाई "लाखों सालों तक नरक में दुःख भोगता है।"[32] "किसी ने ऐसा न ही देखा और न ही सुना है कि कोई कसाई जो जानवरों–भेड़, सूअर... या जंगली जानवरों की हत्या करता है तथा बेचता है, वह इतना धनवान

---

[24]MLS.III.250.
[25]SBE.X(2).39.
[26]GS.IV.129.
[27]Vin.IV.33.
[28]BD.III.3; J.I.83.
[29]SBE.XX.75.
[30]KS.II.171, A.III.383; Pug.56; PugA.233; PvA.
[31]GS.II.223.
[32]KS.II.170.

होता है कि ऐशोआराम से जीवन व्यतीत करता हो।"[33] कुछ कर्मों के फल, जो मनुष्य जीवों को चोट पहुँचाकर अपने ऊपर थोपता है, वे हैं– "लम्बे समय तक दुःखपूर्ण अवस्था से पीड़ित होना तथा किसी निम्न जीव के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करना। यदि वह मानव के रूप में पुनः जन्म लेता भी है, तब भी वह दुर्बल, कुरूप, अप्रिय, डरपोक, करुणारहित, रोगग्रस्त, दुःखी तथा शोकग्रस्त, अपने प्रियों से वियुक्त तथा कम आयु में ही मृत्यु को प्राप्त करनेवाला होता है।"[34] बौद्ध धर्म में हत्या के नैतिक दोष की गंभीरता निश्चित करने के लिए परिस्थितियाँ, जिनके तहत किसी जीव की हत्या की गई हो तथा हत्या के समय उस जीव का शारीरिक और मानसिक विकास देखे जाते हैं। इस प्रकार "एक आदमी तथा एक बच्चे की हत्या का परिणाम उन दोनों के शारीरिक तथा मानसिक विकास के अनुपात में भिन्न होता है।"[35]

लेकिन आरम्भिक बौद्ध धर्म में विशेष परिस्थितियों में "अप्रत्यक्ष हिंसा" की अनुमति थी। उदाहरण के लिए, आरम्भिक बौद्ध धर्म में "चमड़े का प्रयोग, जैसे–भेड़, बकरे तथा हिरण के चर्म का सीमान्त देशों में पलंगपोश (coverlet) के रूप में प्रयोग की अनुमति थी।"[36] कच्चे मांस तथा खून का प्रयोग अमानुषिक (non-human) रोग से ग्रस्त होने पर किया जा सकता था। एक जातक में यह उल्लेख किया गया है कि "कुछ विशेष परिस्थितियों में बोधिसत्त्व भी जीव–हत्या कर सकते

---

[33]GS.III.273.

[34]H. Saddhatissa: *Buddhist Ethics: Essence of Buddhism*, New York: G. Braziller, 1970: 89.

[35] ***वही***.1970: 88.

[36]SBE.XVII.39.

हैं,"[37] विशेषकर वहाँ जहाँ उनकी जन्मकुण्डली में दोष हो।"[38] एक स्थान पर बोधिसत्त्व "हिरण तथा सूअर की हत्या करते हैं तथा मांस को पकाकर खाते हैं,"[39] उसके बाद दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर एक चोर को पकड़ते हैं तथा "उसे पीटते एवं बाँधते हैं।"[40] एक सन्दर्भ में, बोधिसत्त्व मांस बेचते दिखाए गए हैं।[41] इससे भी अधिक विरोधाभास तब उत्पन्न होता है जब बोधिसत्त्व मांसाहारी पशु के रूप में जन्म लेते हैं तथा न केवल उन्हें अपने लिए बल्कि अपने झुंड के लिए भी हत्या करनी पड़ती है। कई बार तो ऐसी परिस्थितियों में बोधिसत्त्व सचमुच हत्या तथा शिकार की तकनीक में विशेषज्ञ दिखाए गए हैं।[42] लेकिन यहाँ पर यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि जातक अट्ठकथा की रचना बहुत बाद में श्रीलंका में हुई थी।

प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म का "युद्ध, कृषि तथा मांस–भक्षण के प्रति दृष्टिकोण खूनी बलियों की अपेक्षा अधिक मिश्रित था। इसने इन तीन प्रथाओं को कभी भी हृदय से नहीं दुत्कारा, हालाँकि ये सभी जीव–हिंसा के लिए अपरिहार्य रूप से दोषी थे।"[43] हालाँकि भिक्षुओं को सैनिकों से जितना हो सके दूर रहने के लिए कहा गया था[44] तथा

---

[37]J.III.296.

[38]J.II.265.

[39]J.IV.272.

[40]J.I.219.

[41]J.I.295.

[42]***ऐसे उदाहरण** जातकों **में कई जगहों पर मिलते हैं। बोधिसत्त्व 8 बार शेर तथा 3 बार गिद्ध के रूप में जन्म लेते हैं।***

[43]I.B. Horner: "Early Buddhism and Taking of Life," D.R. Bhandarkar, K.A. Nilakanta Sastri *et al* (eds), *B.C. Law Volume*, I, Calcutta, 1945: 443.

[44]Vin.IV.104-108.

सैनिकों को संघ में सम्मिलित नहीं किया जाता था,[45] फिर भी बौद्ध दृष्टिकोण कुछ विरोधाभासात्मक प्रतीत है। कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से, बौद्ध धर्म युद्ध का गुणगान करता प्रतीत होता है तथा विनय और सुत्त पिटक में ऐसे कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं जहाँ युद्ध करनेवाले मनुष्यों तथा सामरिक गुणों की प्रशंसा की गई है और प्रतिस्पर्धाओं का वर्णन है। ऐसी बहुत–सी उपमाएँ हैं जो विशुद्ध रूप से सैन्य प्रकृति की हैं और अक्सर उनका प्रयोग भिक्षुओं को युद्ध में लड़ने की भाँति दृढ़ रहने तथा सशस्त्र सैनिकों के समान आध्यात्मिक युद्ध करने हेतु उत्साहित करने के लिए किया गया है।[46] कुछ ऐसी जातक कथाएँ हैं जिनमें बोधिसत्त्व "ख्याति के लिए... शंखनाद करते हुए युद्ध में कूद पड़ते हैं।"[47] इसके बावजूद कि नगरों में अहिंसा का उद्घोष डंके की चोट पर किया गया[48] जिसे प्राचीन काल के राजाओं ने सुना[49] तथा भूमिपतियों द्वारा जानवरों के वध पर प्रतिबंध लगाया गया,[50] तब भी बौद्ध धर्म कुछ हद तक ही अहिंसा के बारे में भारतीय मनोवृत्ति बदल सका तथा कोई गम्भीर प्रभाव न छोड़ सका क्योंकि जानवरों की हिंसा कम से कम अशोक के समय तक जोर–शोर से होती रही।[51] संभवतः वैदिक यज्ञों की लोकप्रियता में कमी लाने के अतिरिक्त, अन्य क्षेत्रों में होनेवाली हिंसा में बौद्ध धर्म को सफलता निम्नलिखित दो कारणों से

---

[45]SBE.XIII.196, 230.

[46]***उदाहरण के लिए देखें***, A.II.116; III.89, 100, 161; J.II.276.

[47]J.I.205-206.

[48]J.III.428, 434.

[49]J.III.428.

[50]J.IV.115.

[51]I.B. Horner, *Op. Cit*: 348.

बहुत कम मिली[52]*–*

1. *आम लोग तथा शासक अपनी महत्त्वाकांक्षा, आनन्द या आजीविका की पूर्ति के इन तरीकों को छोड़ना नहीं चाहते थे।*
2. *बुद्ध कोई लौकिक राजा नहीं थे, अतः उनके हाथों में ऐसी प्रत्यक्ष शक्ति नहीं थी जिससे वे आम लोगों पर प्रतिबन्धात्मक नियमों तथा दण्डों को लागू कर पाते, जैसा कि उन्होंने अपने भिक्षु संघ के मामले में किया था।*

मतकभत्त जातक में बोधिसत्त्व ने हत्यारों के विषय में सोचते हुए इच्छा व्यक्त की हैः "यदि केवल ये प्राणि अपने पापों के परिणाम को जानते, शायद वे हिंसा से दूर रह सकते थे।"[53] *उन्होंने इसी अवसर पर निम्नलिखित उदान भी कहा :*

> *"यदि लोग मात्र यह जानते कि दण्ड से दुःखदाई जन्म होगा, जीवित प्राणी हिंसा करना छोड़ देंगे। दुःख वस्तुतः हत्या करनेवालों के लिए ही होता है।"*[54]

*बौद्ध धर्म में अहिंसा के सिद्धान्त के दो पहलू हैंः 1. नकारात्मक (**negative**), ऐसी अहिंसा जो करुणा, आत्म–निरोध तथा दुःख–दर्द को दूर करने की इच्छा से प्रेरित होती है तथा 2. सकारात्मक (**positive**), ऐसी अहिंसा जो पहले के समान उद्देश्य, इच्छा तथा अभिप्राय से प्रेरित होती है। दूसरे शब्दों में, सकारात्मक निष्पक्ष विचारों (**positive objective considerations**) को ध्यान में रखकर की गई हिंसा को अहिंसा की ही अभिव्यक्ति माना जाता है। अतः अहिंसा का द्वैध सिद्धान्त यथार्थवादी है (**dual concept on nonviolence is***

---

[52]I.B. Horner, *Op. Cit*: 439.

[53]J.I.168.

[54]J.I.168.

realistic)। नकारात्मक पक्ष इस तथ्य की पहचान पर आधारित है कि वास्तविक तौर पर सारा संसार ही मृत्यु तथा विनाश से अभिशप्त है। कोई भी इस संसार में किसी न किसी प्रकार की हिंसा किए बिना अपने जीवन को बनाए नहीं रख सकता। अहिंसा के सकारात्मक पहलू में नैतिक आदर्श की प्रकृति सम्मिलित है जिसके बिना सामाजिक, मानवीय या अंतरिक्षीय व्यवस्था नहीं बनी रह सकती। हिंसा से पूर्णतः दूर नहीं रहा जा सकता, अतः विशेष संकटपूर्ण परिस्थितियों में इससे बचना असम्भव है। दूसरे शब्दों में, विशेष परिस्थितियों में अहिंसा के नकारात्मक पहलू का प्रयोग अपरिहार्य है। अहिंसा के नकारात्मक सिद्धान्त के प्रयोग के कई उदाहरण दैनिक जीवन में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, दर्द दूर करने की दृष्टि से की गई हिंसा, या स्त्रियों के सम्मान का हिंसक बचाव। बौद्ध धर्म मनुष्य तथा जानवर एवं वनस्पति व बीज आदि के बीच भिन्नता में विश्वास करता है। हालाँकि दोनों को नष्ट करना या उन्हें क्षति पहुँचाना पाप माना गया है, लेकिन पाप की मात्रा में अन्तर है। एक वृक्ष को काटने की तुलना में किसी मनुष्य की हत्या में अधिक पाप उपार्जित होता है। इसी प्रकार, ऐसे आदमी की हत्या, जिसका दिमाग कम विकसित हो, की तुलना में विकसित दिमाग वाले आदमी की हत्या में अधिक पाप उपार्जित होता है।

अहिंसा का बौद्ध सिद्धान्त तथाकथित कृषि क्रान्ति से प्रत्यक्ष रूप से जोड़ दिया गया है।[55] यह कृषि क्रान्ति महज एक भ्रांति है। यह विचार कि जानवरों की आर्थिक उपयोगिता के कारण कुछ हद तक बलि प्रथा अलोकप्रिय हुई, को 1940 ई॰ के दौरान कुमारी आई॰बी॰ हॉर्नर द्वारा प्रतिपादित किया गया था। उसने प्रस्तावित किया था कि

---

[55] ***उदाहरण के लिए देखें***, R.S. Sharma: *Material Culture and Social Formation in Ancient India*, first edition, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1983, paperback reprint, Madras: Macmillan, 1992: 96.

"बढ़ते हुए इस अनुभव ने कि बड़े पैमाने पर बलि–प्रथा का प्रचलन आध्यात्मिक तथा आर्थिक दोनों ही रूप से लाभकारी नहीं है, इसे उखाड़ फेंकने में निर्णायक भूमिका अदा की।"[56] हालाँकि हॉर्नर के तर्क में कुछ सच्चाई हो सकती है, परन्तु आर्थिक उपयोगिता तथा बलि–प्रथा की अनुपयोगिता के बीच के सम्बन्ध को अत्यधिक नहीं खींचा जाना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध द्वारा अहिंसा के प्रसार के पीछे आधारभूत तथा तर्कसंगत कारण करुणा, दया, उपेक्खा, मेत्ता, सहिष्णुता तथा सद्भाव थे जिन्हें सामान्यतया प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म द्वारा प्रशंसित किया गया तथा श्रेष्ठ फल तथा लाभ के रूप में लिया गया।[57] बुद्ध ने केवल क्रैषिक पशुओं के लिए ही नहीं, बल्कि हरेक को "सभी जीवों के प्रति अनन्त मैत्री–युक्त मन विकसित करने को कहा।"[58] बुद्ध यदि केवल क्रैषिक पशुओं की अचानक उत्पन्न हुई आवश्यकता के बारे में ही चिन्तित होते तो वे निश्चय ही इन जानवरों के नामों को उस सूची में शामिल कर लेते जिन जानवरों के मांस–भक्षण को बुद्ध ने प्रतिषेध किया था। हमें यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से किसी भी पशु का कृषि कार्यों से कोई लेना देना नहीं था और उनकी हत्या से कृषि कार्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़नेवाला था। सही में देखा जाए तो बुद्ध ने कृषि कार्यों को हिंसा का अपरिहार्य कारण माना क्योंकि उनसे जीवन नष्ट होता था।[59] बुद्ध ने पशु–बलि की आलोचना क्यों की, इसका कारण यह था कि यह अत्यन्त निर्दयी, असंगत तथा निरर्थक थी। इसके अलावा, गाय (विशेषकर दुधारू गाय) जिसका कृषि के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान था, बहुत पहले ही संरक्षित की जा चुकी थी। सुत्तनिपात में

---

[56]I.B. Horner, *Op. Cit*: 440.

[57]KS.V.149.

[58]SBE.X(2).25.

[59]Vin.IV.33.

'पुरातन ब्राह्मणों' के बारे में कहा गया है कि वे गायों को अपने माता–पिता, भाई–बन्धु, सर्वश्रेष्ठ मित्र तथा सभी स्वास्थ्यकारी वस्तुओं का स्रोत मानते थे और इसलिए कृतज्ञतावश वे गायों की हत्या कभी नहीं करते थे।[60] बड़ी मात्रा में होनेवाली पशु–बलि को कम करने के उद्देश्य से आरम्भिक भारतीय बौद्ध साहित्य में भी दिए गए साक्ष्य यह बताते हैं कि ब्राह्मण समुदायों के बाहर सामान्य लोगों में पशु–बलि इतनी प्रशंसित नहीं थी।[61] इसके अतिरिक्त, दो विद्यमान तथ्यों के बीच सम्बन्ध ढूँढ़ना भी अपने–आप में जोखिम भरा है। उदाहरण के लिए, यदि हम यह तर्क देते हैं कि "आज समाज में बच्चों की जन्म दर को कम करने की आवश्यकता है, ब्रह्मचर्य का पालन बच्चों की जन्म–दर को कम करने में सहायक होगा, अतः देश की मठीय परम्परा में ब्रह्मचर्य का पालन देश की वर्तमान आर्थिक आवश्यकता को द्योतित करता है।"[62] परन्तु हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है।

यदि पालि साहित्य के कथन, जो बुद्ध द्वारा उपदिष्ट शब्द माने जाते हैं, को प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया जाए तो यह तर्क दिया जा सकता है कि बुद्ध ने जानवरों के मांस–भक्षण की अनुमति दी थी। परन्तु क्या ये भाग पालि साहित्य में बाद में जोड़े गए क्षेपक (interpolation) हैं? मांस–भक्षण के दृष्टिकोण की तीक्ष्ण आलोचना एवं खण्डन महायान सूत्रों, जिन्हें भी बुद्धवचन माना जाता है, द्वारा किया गया है। महायान सूत्र स्पष्ट रूप से विश्वास दिलाते हैं कि मांस–भक्षण प्रथम शिक्षापद के अभिप्राय तथा उद्देश्य के प्रतिकूल है क्योंकि ऐसा करनेवाला जानवरों की हिंसा का साधन बनता है और इसलिए यह

---

[60]Sn.52.

[61]I.B. Horner, *Op. Cit.*: 442.

[62]G.C. Pande: "On the Question of the Social Origins of Buddhism," Mahesh Tiwary (ed), *Bodhi-Raśmi*, New Delhi: Motilal Banarsidass, 1984: 6.

सभी जीवों के प्रति करुणायुक्त भावना का, जिसका बौद्ध धर्म में मर्म स्थान है, उल्लंघन करता है। क्या कोई विश्वसनीय साक्ष्य है कि बुद्ध ने मांस–भक्षण की अनुमति दी थी? दुर्भाग्यवश विद्वानों द्वारा मांस–भक्षण पर बौद्ध धर्म की दो शाखाओं के बीच के विवाद एवं स्पष्ट असंगति को दूर करने का कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया है। इसके साथ यह प्रश्न भी उठता है कि क्या बुद्ध की मृत्यु सूअर का मांस खाने से हुई थी, जैसा कि कुछ विद्वानों द्वारा दावा किया जाता है, या फिर विषाक्त खुंभी **(poisonous mushroom)** *खाने से, जैसा कि अन्य विद्वानों द्वारा कहा गया है। यदि पालि त्रिपिटक के अनुसार चला जाए तो हम पाते हैं कि बुद्ध ने मांस–भक्षण पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया था। एक भिक्षु को "जो कुछ भी उसके भिक्षा–पात्र में डाला जाए," उसे स्वीकारने की अनुमति थी।[63] और फिर इस सम्बन्ध में बुद्ध के चचेरे भाई एवं साले देवदत्त का उल्लेख आता है, जो संभवतः कुछ श्रमणों एवं ब्राह्मणों द्वारा मांस भक्षण के प्रति अपनाए गए पूर्ण प्रतिषेध से प्रेरित था।[64] उसने बुद्ध को चुनौती दी तथा उन्हें मांस–भक्षण पर पूर्ण प्रतिबंध लगाने को कहा। बुद्ध के बारे में कहा जाता है कि अपने कुछ अनुयायियों द्वारा साथ छोड़ दिए जाने पर भी उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया।[65] बहुत–से अन्य सन्दर्भ, यद्यपि प्रसंगवश ही, सत्यापित करते हैं कि मांस–भक्षण साधारण रीति–रिवाज माना जाता था तथा भिक्षुओं द्वारा निरन्तर मांस तथा मछली खाने का उपलब्ध विवरण इस बात को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि मांस–भक्षण उनके भोजन का महत्त्वपूर्ण भाग था। मांस, मछली, फल, दुग्ध–उत्पाद तथा अनाज,*

---

[63]SBE.III.155.

[64]C.S. Singh, "Meat-Eating and the Rule of *Tikoṭiparisuddha*," A.K. Narain (ed), *Studies in Pāli and Buddhism*, Delhi, 1979: 289-295.

[65]SBE.XI.196ff; BD.I.297ff.

विशेषकर चावल उस समय की जनसंख्या का मुख्य भोजन था तथा बुद्ध इस बात से बिल्कुल आश्वस्त थे कि शुद्धता खाद्य–पदार्थों पर निर्भर नहीं करती,[66] बल्कि यह शारीरिक, मानसिक तथा सदाचार के उस आचरण के नियंत्रण से सम्भव होती है जो मनुष्य को दूषित करता है।[67]

पालि बौद्ध धर्म में भिक्षुओं को निम्नलिखित अपवादों (exceptions) के साथ मांस–भक्षण की अनुमति दी गई है:

1. *किसी भिक्षु द्वारा इन तीन परिस्थितियों में मांस नहीं खाया जाना चाहिए, यदि उसने देखा, सुना या सन्देह किया हो कि मांस किसी जानवर की हत्या कर विशेषतया उसके लिए प्राप्त किया गया है, अर्थात् भिक्षु के निमित्त जानवर की हत्या की गई है।[68] यह तिकोटिपरिसुद्ध (अर्थात् तीन तरह से शुद्ध) का नियम कहलाता है। इस प्रकार पालि बौद्ध धर्म के अनुसार, भिक्षुओं को किसी पाप या हिंसा के लिए जिम्मेवार नहीं ठहराया जा सकता यदि मांस की प्राप्ति किसी व्यक्ति द्वारा जानबूझकर किसी जानवर को उन्हें खिलाने के लिए मार कर की गई।[69]*
2. *कच्चे मांस के प्रयोग की अनुमति नहीं थी।[70] परन्तु बीमारी की अवस्था में "कच्चे मांस तथा खून का भी प्रयोग किया जा*

---

[66]M.I.80.

[67]A.I.221.

[68]MLS.II.33; BD.I.298.

[69]"***दुष्ट उपहार के लिए अपनी पत्नी या बेटे की हत्या कर दें, तब भी, यदि भिक्षु खा लें, पाप नहीं होता।*" (J.II.182).

[70]D.II.5.

सकता है।"[71] बुद्ध ने भिक्षुओं को यह अनुमति भी दे दी थी कि वे "सिंहों, बाघों, लक्कड़बग्घों तथा भेड़ियों द्वारा मारे गए जानवरों के अवशेषों को पका तथा खा सकते हैं।"[72] बुद्ध ने इसकी भी अनुमति दी थी कि "यदि उचित समय पर मिले तो तेल के रूप में भालुओं, मछलियों, मगरों, सूअरों, तथा गधों की चर्बी का भी इस्तेमाल किया जा सकता है।"[73] वास्तव में, मछली तथा मांस का उल्लेख उन पाँच श्रेष्ठ एवं स्वादिष्ट भोजनों (पाणितभोजनीय) में किया गया जिन्हें एक बीमार भिक्षु को खाने की अनुमति थी।[74]

3. *विभिन्न कारणों से निम्नलिखित दस जीवों का मांस खाना भी भिक्षुओं के लिए मना था[75]: आदमी, हाथी, घोड़ा, कुत्ता, साँप, शेर, बाघ, चीता, भालू तथा लक्कड़बग्घा।*

हालाँकि तिकोटिपरिसुद्ध के नियम ने भिक्षुओं को मांस–भक्षण के लिए जानवरों की हत्या के लिए प्रत्यक्ष रूप में सहायक होने से बचाए रखा तथा कुछ हद तक इस नियम की "सामाजिक रूप से अस्वीकार्य जीवों के मांस–भक्षण की मनाही द्वारा कमियाँ दूर कर दीं,"[76] फिर भी पालि बौद्ध धर्म का मांस–भक्षण तथा अहिंसा के प्रति रवैया किंचित् विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है। महायान सूत्रों में पालि बौद्ध धर्म की मांस–भक्षण के लिए घोर निंद्दा की गई है। तिकोटिपरिसुद्ध के नियम ने भले ही भिक्षुओं को किसी भी प्रकार के पाप से मुक्त कर

---

[71]SBE.XVII.49.

[72]BD.I.98.

[73]SBE.VII.43.

[74]*पातिमोक्ख, पाचित्तिय धम्म* ***सं० 33।***

[75]SBE.XVII.85.

[76]C.S. Prasad, *Op. Cit*: 104-05.

दिया हो, परन्तु उनके द्वारा स्वयं कसाइयों की घोर निन्दा की गई है। इसलिए आजकल बड़ी संख्या में थेरवादी भिक्षुओं को मांस का रसास्वादन लेते अक्सर देखा जा सकता है। वे मांस–भक्षण को न केवल इस आधार पर उचित ठहराते हैं कि पालि ग्रन्थों में बुद्ध द्वारा मांस–भक्षण की अनुमति दिए जाने के उल्लेख हैं, केवल वे इस तथ्य का निरपवाद रूप से उल्लेख करते हैं कि वस्तुतः, बुद्ध की मृत्यु चुन्द नामक अपने एक अनुयायी के घर सूअर का मांस (जो कि सड़ा हुआ था तथा जिसने बुद्ध को विषाक्त कर दिया था) खाने के परिणामस्वरूप हुई थी। इसके आगे वे तर्क देते हैं कि भिक्षु लोग बिना किसी पसन्द या नापसन्द के जो कुछ उन्हें दिया जाता है, उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं। बुद्ध के ऐसे विभिन्न वक्तव्यों तथा क्रियाविधियों का प्रयोग भी वे मांस–भक्षण को वैध ठहराने के लिए करते हैं, जिनसे लगता है कि दिए जाने पर बुद्ध स्वयं मांस खाते थे, अतः निश्चय ही उन्हें भी (भिक्षुओं को भी) ऐसा करने की अनुमति है। महापरिनिब्बान सुत्तंत का प्रासंगिक भाग इस प्रकार हैः

> *"तब चुन्द ने भगवान को सम्बोधित किया और कहा, "भगवान अपने भिक्षु संघ के साथ मेरे घर कल का भोजन कर मेरा सम्मान करें।" तथा भगवान ने चुप रहकर अपनी सहमति दी... रात्रि के बीतने पर चुन्द लोहार ने अपने घर मीठे चावल तथा सूकरमद्दव तैयार करवाया।"[77]*

*विद्वानों द्वारा सूकरमद्दव के कई अर्थ बताए गए हैं। एच॰ फ्रैंके (**H. Franke**) ने इसका अर्थ "सूअर का मुलायम मांस" बताया है।[78] आर्थर् वेली (**Arthur Waley**) सूकरमद्दव की चार व्याख्याएँ देते हैः सूअर का*

---

[77]D.II.126-27.

[78]*PED*: s.v. *Sūkara*. Oldenberg *(Ibid.)* ***तथा जे॰ एफ॰ फ्लीट*** *(*J.F. Fleet*)* *(*JRAS: 1906: 656, 881*)* ***उनसे सहमत हैं।***

एक मुलायम भोजन (सूअर द्वारा खाया जाने वाला भोजन), सूअर का आनन्द (सूअर का एक मनपसन्द भोजन), सूअर के शरीर का एक मुलायम हिस्सा, या सूअर से मथा हुआ (सूअर द्वारा लताड़ा हुआ भोजन)।[79] *पालि में ऐसे बहुत से मिश्रित शब्द हैं जिनका एक भाग 'सूकर' (सूअर) से बना है। उदाहरण के लिए, समास शब्द 'सूकर–सालि' का प्रयोग पालि साहित्य में एक प्रकार के जंगली चावल के लिए किया गया है।*[80] *के॰ई॰ न्युमन्न* ***(K.E. Neumann)*** *ने, जैसा कि आर्थर् वेली द्वारा उद्धृत किया गया है, "दर्शाया है कि नरहरि के रजनीघंतु में वर्णित औषधीय पौधों के नामों में मिश्रित शब्दों की एक श्रृंखला उल्लिखित है, जिनका प्रथम अवयव 'सूअर' है, जैसे– 'सूकर–कन्द' (शकरकन्द), 'सूकर–पदिक' (सूअर का पैर), 'सूकरेष्ट' (सूअरों द्वारा इच्छित)। अन्तिम शब्द की समानता के आधार पर न्यूमन्न ने 'सूकर–मद्दव' का अर्थ 'सूअर का आनन्द' बताया है तथा यह मानते हैं कि यह एक प्रकार के कवक* ***(truffle)*** *का नाम है... पौधों के नाम अक्सर स्थानीय तथा क्षेत्रीय बोलियों में होते हैं। इस बात की बड़ी संभावना है कि यदि इस प्रकार की अभिव्यक्ति जैसे 'सूअर–मद्दव' का अर्थ मगध में "कवक" था, तो इसकी भी संभावना है कि सुदूर पश्चिमी तथा दक्षिणी केन्द्रों, जहाँ पालि बौद्ध धर्म पहुँचा, इससे पूर्णतः अनभिज्ञ थे तथा परिणामस्वरूप इसका गलत अर्थ लगाया गया।"*[81] *वस्तुतः टी॰ डब्ल्यू॰ रायस डेविड्स ने इसका अर्थ 'कवक की मात्रा'* ***(quantity of truffles)*** *बताया है।*[82] *सूअर के मांस के लिए पालि में 'सूकरमंस'*

---

[79]Ivan Morris, *Madly Singing in the Mountains: An Appreciation and Anthology of Arthur Waley*: 342.

[80]J.VI.531.

[81]R.P. Kapleau: 24 ***पर उद्धृत।***

[82]DB.II.137.

नामक शब्द का इस्तेमाल किया गया है।[83] एड़वर्ड थॉमस (Edward Thomas) ने सही ही निर्दिष्ट किया है कि "शब्द... स्पष्ट रूप से सूकरमंस (सूअर का मांस) नहीं है, जिसकी कि हम उम्मीद करते, यदि यही संदर्भ होता।"[84] श्रीमती सी॰ए॰एफ॰ रायस डेविड्स ने तर्क प्रस्तुत किया है कि "एक भोजन के नाम के रूप में समास शब्द सूकरमंस का त्रिपिटक में एक बार ही एक गौण महत्त्व के सुत्त में वर्णन आया है, जहाँ कि एक गृहस्थ गौतम को भोजन के लिए आमंत्रित करते हुए सीमित ब्योरे में भोजन–सूची को बोलता है। मद्दव कहीं किसी अन्य जगह मांस के साथ नहीं जोड़ा गया है, तथा टी॰डब्ल्यू॰ रायस डेविड्स का विचार तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यहाँ हमें वह भोज्य पदार्थ... जो कि कन्द–मूल का है, जैसे कवक जो सूअरों को अत्यधिक पसन्द होता है, तथा संभावना है कि उसे ही सूअर का आनन्द (pig's joy) कहा गया हो। इस प्रकार का कन्द–मूल सही में हमारे पास है जिसकी आलोचकों को जानकारी नहीं थी– हमारे काष्ठफल (earth nuts)– छोटे गिरीदार फल के आकार की कन्दयुक्त (bulbous) जड़ें हैं– जिन्हें सूअर तथा बच्चे, दोनों ही पसन्द करते हैं।"[85] सूकरमद्दव का अर्थ "सूअर का मांस" न होने का एक और महत्त्वपूर्ण कारण भी है। चुन्द ने बुद्ध को अपने घर पर आमंत्रित किया था। उसने बुद्ध को सूअर का मांस नहीं खिलाया होगा, क्योंकि यह तिकोटिपरिसुद्ध नियम का साफ उल्लंघन होता।[86] जहाँ तक बुद्ध की भोजन–संबंधी आवश्यकताओं की

[83] *संपन्न–कोलं सूकरमंस* ***(बेर–युक्त सूअर–मांस)*** *(*A.III.49*).*

[84] Edward Thomas, *The Life of the Buddha*, London: Routledge, 1949: 149.

[85] C.A.F. Rhys Davids, *A Manual of Buddhism*, London: Sheldon, 1932: 260.

[86] ***यदि यह मान भी लिया जाए कि बुद्ध ने स्वयं*** *तिकोटिपरिसुद्ध नियम* ***बनाया था।***

बात है, बुद्ध को भोजन के लिए आमंत्रित करनेवाला अक्सर पहले आनन्द से सम्पर्क करता था। उदाहरण के लिए, विनय–पिटक में वर्णित आनन्द एवं एक ब्राह्मण के बीच हुए वार्तालाप से ऐसा बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है:

> *"मेरे प्रिय आनन्द, यदि मैं (भिक्षुओं के लिए) खीर तथा मधुपिण्ड बनवाऊँ, तो क्या आदरणीय गौतम मुझसे यह स्वीकार करेंगे?"*
>
> *"बहुत अच्छा ब्राह्मण! मैं प्रभु से पूछूँगा।" तथा आनन्द ने यह बात प्रभु को बताई।*
>
> *"बहुत अच्छा आनन्द! उसे (वे खाद्य पदार्थ) तैयार करने दें।"*
>
> *"बहुत अच्छा ब्राह्मण! तुम (उन खाद्य पदार्थों को) तैयार कर सकते हो।"[87]*

ऐसा कहना कि बुद्ध ने मांस–भक्षण की अनुमति कुछ निश्चित परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दी, स्वीकार करना बहुत कठिन है। उस व्यक्ति, जिसने पशु–बलि तथा मांस बेचने, शिकार करने और फंदेबाज़ी जैसे घिनौने धंधों की कड़े शब्दों में निन्दा की हो, उसके लिए यह कल्पना करना कठिन है कि उन्होंने उन्हीं जानवरों के मांस का स्वाद लिया हो। वह प्रत्येक मनुष्य जो मांस खाता है, चाहे कोई जानवर विशेष रूप से उसके लिए मारा गया हो या नहीं, वह मांस के व्यापार में सहायक होता है तथा निर्दोष जानवरों की निर्मम हत्या में भागीदार होता है। कोई भी व्यक्ति, जो बुद्ध की जीवित प्राणियों के प्रति विलक्षण करुणा तथा प्रेम से सम्बन्धित अनेक वृत्तान्तों से अवगत है, वह यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि बुद्ध ने उन्हीं प्राणियों के मांस–भक्षण की अनुमति दी हो। जीवित प्राणियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे, इसके लिए वह इतने चिंतित रहते थे कि उन्होंने

---

[87] SBE.XVII.88.

भिक्षुओं को पानी भी छान कर पीने के लिए कहा ताकि पानी में रहनेवाले सूक्ष्म जीवों की अनजाने में हुई हत्या से बचा जा सके! भिक्षु अपने प्रशिक्षण, चारित्रिक शक्ति तथा जीवन–उद्देश्य में जन–साधारण से भिन्न तथा दृढ़निश्चय वाले होने के कारण अधिक अच्छी प्रकार से इन्द्रिय सुख, जिससे कि आम लोग वशीभूत हो जाते हैं, उनसे स्वयं को बचा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि संबंधित ग्रन्थों के लेखकों ने मांस–भक्षण से सम्बन्धित भागों को त्रिपिटक में बाद में जोड़ दिया गया। लगभग 300 वर्षों से अधिक तक धर्मग्रन्थ मौखिक परम्परा में हस्तांतरित होते रहे तथा इस काल के दौरान ऐसा अन्तर्वेशन हो गया होगा।

पुत्तमंस सुत्त में बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदिष्ट किया है कि ठोस भोजन (कवलीकार आहार) आनन्द (दवाय), आसक्ति (मदाय), अपने को सँवारने (मण्डनाय) या अपनी सुन्दरता (विभूसनाय) के लिए नहीं, बल्कि मात्र जीवन की आवश्यकता के रूप में लिया जाना चाहिए।[88] जबकि यह स्वीकार किया गया है कि जीवन को बनाए रखने के लिए भोजन मुख्य आवश्यकता है, वहीं इसे लालच का मुख्य स्रोत एवं उस वस्तु के समान माना गया है जिससे स्वाद का अनुभव तृष्णा में परिवर्तित तथा विकसित हो जाता है। अतः कई अवसरों पर भोजन के सम्बन्ध में अल्पाहार की वकालत की गई है, हालाँकि कभी भी आत्म–दमन (अत्तकिलमथ) के स्तर तक नहीं। आदर्श भिक्षु उसे बताया गया है जो कर्म तथा वचन में नियंत्रित, भोजन के प्रति संयमित (कायगुत्तो, वचीगुत्तो, आहारे उदरे यतो[89]), हल्के उदरवाला, अल्पाहारी, आसानी से संतुष्ट होनेवाला तथा शान्त चित्तवाला हो (अनूदरो, मिताहारो, अप्पिच्छ'स्स अलोलुपो[90]) । दूसरी ओर, वैसे व्यक्ति का, जो

---

[88]S.II.98-100.

[89]S.I.172; Sn.78.

[90]***वही***.707.

भोजन में संयम न बरतता हो, वर्णन उस व्यक्ति के समान किया गया है जो बिना सोचे–समझे तथा बुद्धिहीन तरीके से भोजन आनन्द, मान, सजावट, श्रृंगार, अत्यधिक लालचवश भोजन ग्रहण करता हो।[91]

वह धर्म, जो अपने दर्शन का आधार मेत्ता, करुणा, मुदिता तथा उपेक्खा को बनाकर सभी जीवों के कल्याण (सब्बपाण–भूत–हितानुकम्पिन्[92]*) की कामना करता हो, जिसके संस्थापक प्रतिदिन संसार का सर्वेक्षण उन जीवों की खोज के लिए करते हों जिन्हें उनकी दया तथा मदद चाहिए*[93]*, उसने मांस–भक्षण की अनुमति दी हो ऐसा नहीं हो सकता। एक अच्छा बौद्ध जिससे यह आशा की जाती हो कि वह करुणा के प्रति दत्तचित्त हो (करुणाधिमुत्त*[94]*), उसके बारे में यह सोचना ठीक प्रतीत नहीं होता कि वह अपना जीवन मांस खाकर जीए, चाहे वह मांस किसी भी प्रकार प्राप्त किया गया हो। कसाइयों, शिकारियों तथा मछुआरों को छोड़कर, जो भोजन के लिए हिंसा करते हैं, मांस–भक्षण करनेवाले अधिकांश लोग अप्रत्यक्ष रूप से जानवरों की हिंसा तथा बर्बादी के लिए उत्तरदायी हैं। लेकिन तब भी उन्हें प्रथम शिक्षापद के प्रति कम उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। इस प्रकार पालि त्रिपिटक के वे सभी भाग, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मांस–भक्षण की अनुमति (जिनमें तिकोटिपरिसुद्ध का नियम भी शामिल है) देते हैं, को आवश्यक रूप से मांसाहारी भिक्षुओं द्वारा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद जोड़े गए क्षेपक के रूप में देखा जाना चाहिए।*

---

[91]Pug.21; tr.31.

[92]S.IV.314; A.II.210, III.92, IV.249; Pug.57, 68.

[93]D.II.237; Ps.I.126f; DhA.I.26, 367; PvA.61, 195.

[94]D.II.241f.

4

महिलाओं के प्रति रुख

महिलाओं के प्रति प्राचीन भारतीय बौद्ध रुख का विवेचन करते समय यह ध्यान देना आवष्यक है कि विश्व का इतिहास पुरुषों का इतिहास रहा है क्योंकि इसे महिलाओं की कोई चर्चा किए बगैर लिखा गया था। समाज में महिलाओं की भूमिका काफी सीमित, घिसी–पिटी व निम्न स्तर की रही है। मानव–जाति की भाषा, संस्कृति व विचार–पद्धतियाँ पुरुषों की ही रचनाएँ हैं।[1] इस प्रकार, इस विश्व की रचना व प्रगति में महिलाओं को भागी मानने के बजाए पुरुषों ने उन्हें विचित्र व बाधक वस्तु के रूप में देखा है। वे अपने जीवन में कुछ ज्यादा पा भी नहीं सकती थीं क्योंकि उनकी पहुँच नगण्य वस्तुओं तक ही सीमित थी। उनके जीवन की धारा, जन्म से मृत्यु तक, पिता, भाइयों व अन्ततः पतियों के अधीन थी जो सरकारें बनाने व सेनाओं की रचना करनेवाले पुरुष ही थे। इस तरह की पुरुष–प्रधान दुनिया में महिला–पक्षीय रुख की बहुत ज्यादा आषा नहीं की जा सकती थी क्योंकि पुरुषों को हमेषा यह स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव हुई है कि महिलाएँ भी पुरुषों की तरह अनुराग व पीड़ा तथा विकास व क्षय का षिकार हो सकती हैं। यह देखने योग्य है कि अधिकतर धार्मिक परंपराओं में, जिन्होंने भी अभिलेखन किया उन्होंने महिलाओं की अपेक्षा केवल पुरुषों के अनुभवों व मानसिक छवियों का ही अभिलेखन किया। इसलिए यह

---

[1]इस प्रकार की धारणा की आदर्ष अभिव्यक्ति को सिमोन द बोवुआ (Simone de Beauvoir, *Second Sex*, New York: Knopf, 1953) तथा डौरॅथी सेयर (Dorothy Sayer, *Are Women Human?*, Grand Rapids: Eerdmans, 1971) जैसी नारीवादी बुद्धिजीवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है।

आश्चर्यजनक नहीं कि विभिन्न धर्मों के ग्रंथ पुरुष–प्रधान चरित्रों, विषयों व कल्पनाओं पर ही केंद्रित हैं। यहाँ तक कि जब महिलाओं के बारे में सूचना दर्ज की भी गई तो बाद के व्याख्याकारों ने उसे सामुदायिक चेतना व स्मृति में बनाए रखने की ओर ध्यान नहीं दिया। दुःख की बात है कि वर्तमान पाण्डित्य का ध्यान भी धार्मिक परंपराओं की तरह मुख्यतौर पर पुरुष नायकों के विवरण पर ही केंद्रित है। पुरुष–केंद्रित शोध करने व सोचने की आदत (जिसमें सामान्यतया नारीवाद शामिल नहीं है) आधुनिक पाण्डित्य में इतनी गहराई से स्थापित है कि अधिकतर विद्वान इससे सचमुच अनभिज्ञ हैं।

औपचारिक समानता व शिक्षा के अधिकार के बावजूद, हमारे समाज में महिलाओं की स्थिति अब भी अधीनस्थ की है। उनसे मुख्यतया यही आषा की जाती है कि वे बच्चे पैदा करके उनका पालन–पोषण करें। ऐसे चिन्तन का परिणाम है– एक सुरक्षित गृहिणी व माता का सुप्रसिद्ध मध्यवर्गीय आदर्श[2]– एक ऐसा आदर्श जिसे प्राचीन संदर्भों में सीधा महिलाओं पर उतार दिया जाता है। कुछ इक्का–दुक्का सुयोग्य महिलाओं ***(women worthies)*** की जहाँ–तहाँ उपस्थिति का भी महिलाओं की संपूर्ण स्थिति या उनके प्रति पुरुषों के रुख पर कोई दृष्टिगोचर प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए, मानव–जाति को ठीक से समझने के लिए एक ऐसे प्रतिमान की आवष्यकता है जिसमें किसी एक लिंग को केंद्र में तथा दूसरे को किनारे पर रखने से सुनिष्चित तौर पर बचा जा सके।[3] इस तरह का प्रतिमान यह स्वीकारेगा कि मानव दो लिंगों के हैं और दोनों में समान रूप की मानवीयता है। यह प्रतिमान इस तथ्य की भी पहचान करेगा कि प्रत्येक समाज में लिंग–आधारित भूमिकाओं व मान्यताओं ने पुरुषों

---

[2]Well-known bourgeois ideal of the *protected housewife and mother*.

[3]For the proper understanding of humanity, there is the need of a model which would strictly avoid placing one gender in the centre and the other on the fringes.

व महिलाओं को जितना एक–दूसरे से अलग व भिन्न दिखाया है उतने वे जैविक तौर से नहीं हैं।[4] लेकिन न ***तो मानवीय सृजनात्मकता और न ही उसका अनुभव लिंग–निरपेक्ष है[5] तथा*** जिस दुनिया में मानव रहते व एक–दूसरे को प्रवाभित करते हैं उसे समझने के लिए लिंग व लैंगिक गतिविधियाँ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनीय–घटक हैं।[6] इस प्रकार, ऐसा प्रतिमान उस मानवीय सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति, चाहे वह कलात्मक, सामाजिक या बौद्धिक हो, की पहचान करेगा, जो दोनों ही लिंगों द्वारा रची व अनुभव की गई हो।[7]

उपर्युक्त तथ्य के संदर्भ में, हमने निम्नलिखित निष्कर्षों का विस्तार व विवेचन किया है:

1. गौतम बुद्ध के जन्म के समय तक, पुरुष–प्रधानता व पितृसत्तात्मकता भारतीय समाज के मुख्य स्तंभ बन चुके थे जिसमें परिवार जैसे एक सामाजिक ढाँचे के माध्यम से महिलाओं को नियंत्रित व सुरक्षित रखना अति आवष्यक माना जाने लगा था। लड़की का जन्म न केवल अनिच्छित, बल्कि दुर्भाग्यपूर्ण भी माना जाता था। बहुपत्नी–प्रथा, हरम व वेश्यावृत्ति जैसी महिलाओं को निम्नीकृत करनेवाली सामाजिक कुरीतियाँ भारतीय सामाजिक व आर्थिक जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थीं। पत्नी की पिटाई आम बात थी और ऐसी

---

[4]Gender roles and stereotypes in every society have shown men and women as more distinct and divergent from each other than is biologically dictated.

[5]However, neither human creativity nor its experience are gender neutral.

[6]The concepts of gender and sexuality are crucial variables in the understanding of the world in which humans live and interact.

[7]Such a model would also acknowledge that expression of human creativity, whether it is artistic, social or intellectual, is both created and experienced by gendered sexual beings.

महिला को एक आदर्ष पत्नी माना जाता था जो खुद को पति के सामने पूरी तरह समर्पित कर देती थी, उसे पूजती (पतिदेवता[8]) थी और उसके चरणों में गिरकर (पादपरिचारिका[9]) खुद को धन्य समझती थी। ऐसी स्त्रियाँ आदर्श पत्नी मानी जाती थीं। दहेज (इत्थिधन[10]) आज की ही तरह एक सच्चाई थी और महिलाएँ यदा–कदा वस्तुओं की तरह भी बेची जाती थीं।[11] विनय में ऐसे ब्राह्मणों के कई उदाहरण हैं जिन्होंने भिक्षुणियों को वेश्याएँ कहा। ये कहानियाँ बुद्ध काल के दौरान ब्राह्मण सम्बन्धी सामाजिक वातावरण में भिक्षुणियों की एक झलक प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिएः

> अब उस समय कई भिक्षुणियाँ कोशल प्रदेश होते हुए श्रावस्ती जा रही थीं, शाम में किसी गाँव पहुँचने पर उन्होंने एक ब्राह्मण परिवार में रात बिताने हेतु षरण माँगी। तब उस ब्राह्मणी ने इन भिक्षुणियों से यह कहाः
> "आप तब तक प्रतीक्षा कीजिए, जब तक ब्राह्मण आ नहीं जाते।"
> तब वह ब्राह्मण रात में आता है और ब्राह्मणी से पूछता हैः "कौन हैं ये?"
> "स्वामी, ये भिक्षुणियाँ हैं।"
> यह कहते हुए, "इन सिर–मुंडी रंडियों को बाहर निकालो," वह उन्हें घर से बाहर निकाल देता है।[12]

2. गौतम बुद्ध और उन्हीं की तरह विचार रखनेवाले आनन्द जैसे उनके शिष्यों का महिलाओं के प्रति बड़ा ही सकारात्मक व

[8]J.II.406; VvA.128.

[9]S.I.125; J.II.95, VI.268; DhA.II.194.

[10]Vin.II.116.

[11]इत्थियो विक्किणिय भण्डनं (DhA.I.390), भण्डानं उत्तमं (S.I.43)।

[12]SBB.XII.275.

क्रांतिकारी रुख था। बुद्ध ने पुरुषों व महिलाओं दोनों के समान हित के लिए अपने संघ के दरवाजे खोले। यह एक ऐसा रुख था जो उस समय के लिए एक असाधारण बात थी और जिसे बुद्ध के आलोचकों ने एक उग्र व खतरनाक कदम माना। बुद्ध व आनन्द द्वारा ऐसे रुख को अपनाया जाना परंपरागत लिंगीय विकृति से परे सद्‌गुण व आध्यात्मिक संभावना को पहचानने की ओर से किए गए प्रयासों को प्रतिबिंबित करता है। बड़ी संख्या में महिलाओं ने इस अवसर का लाभ उठाया। बुद्ध ने नारी को ज्ञानी, मातृत्वशील, सृजनात्मक, भद्र व सहिष्णु के रूप में स्वीकार किया। बुद्ध की शिष्याओं में कई ऐसी महिलाएँ थीं जो मनसिक एवं दैहिक दुःखों, जो मानवीय अस्तित्व के यथार्थ हैं, से पूर्ण मुक्त होकर अर्हत् बनीं। कुछ भिक्षुणियों की अपनी खुद की शिष्याएँ थीं और वे न केवल धम्म के प्रतिपादन में सक्षम थीं, बल्कि बुद्ध या उनके कुछ दूसरे वरिष्ठ भिक्षुओं की मध्यस्थता के बिना भी दूसरी प्रतिभगिनियों को पूर्ण मुक्ति दिला सकती थीं। यह मानने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सबसे आरंभिक मठीय समूह में महिलाएँ न केवल स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं, बल्कि कर्ता व शिक्षक के रूप में भी उन्हें प्रमुख व सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बुद्ध ने भिक्षुणी–संघ की स्थापना करके महिलाओं के लिए नए क्षितिजों को खोला। महिलाओं के लिए यह सामाजिक व आध्यात्मिक उन्नति उस समय की दृष्टि से काफी आगे थी और इसलिए पुरुषों, विषेषकर भिक्षुओं, ने इस पर गंभीर आपत्ति की होगी। लेकिन बुद्ध के प्रभावी व शक्तिशाली व्यक्तित्व ने ऐसी आपत्तियों को पास नहीं फटकने दिया होगा। हमारे विचार में, महाप्रजापति गौतमी से संबंधित आठ नियमों सहित कई प्रतिबंध व प्रतिकूल परिस्थितियाँ, जिनका संदर्भ आरंभिक बौद्ध साहित्य में मिलता है, बुद्ध की मृत्यु के बाद महिलाओं पर थोपी गई थीं और इस प्रकार ये महापरिनिर्वाण के बाद के काल के क्षेपक थे। कई प्रकार की

प्रतिकूल परिस्थितियों व उत्पीड़नों के होते हुए भी, विहारों में शिक्षा और खाली समय की सुविधा के साथ–साथ व्यक्तिगत नैतिक सर्वोच्चता की भावना ने अनेक महिलाओं को एक संगठित जीवन की अज्ञात संभावनाओं की ओर प्रेरित किया होगा। विहारों में महिलाएँ घर से बाहर की गतिविधियों में सक्रिय हो सकती थीं, जैसे– धर्मप्रचार, संगठनात्मक कौशलों का विकास, और तो और, ऐसा वातावरण जिसमें वे अपनी उपलब्धियों का अनुभव कर सकती थीं। दुर्भाग्यवश, भिक्षुणी–संघ ज्यादा समय तक जीवित नहीं रह सका।

3. बुद्ध की मृत्यु के बाद कम–से–कम, जहाँ तक महिलाओं का प्रश्न है, एक शून्य उत्पन्न हुआ। बुद्ध जैसे महान व्यक्तित्व के अभाव में आनन्द जैसे महिलाओं के मुट्ठी भर बचे समर्थकों को संघ के उन भीतरी तत्त्वों ने अभिभूत कर दिया, जो महिलाओं के प्रवेश को एक अपमान की बात मानते थे। यह राजगृह में आयोजित पहली बौद्ध संगीति में विषेष रूप से मुखर हुआ जहाँ संघ में महिलाओं के प्रवेश के लिए आनन्द को उत्तरदायी ठहराकर उनकी कड़ी आलोचना की गई। महापरिनिर्वाणोत्तर काल में, बौद्ध संघ एक ऐसी संस्था बन गया जिस पर एक बड़े षक्तिषाली उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक शक्ति–ढाँचे *(*androcentric-patriarchal power structure*)* का प्रभुत्व था। इस तरह की मानसिकता के द्वारा बौद्ध साहित्य का संपादन व संशोधन किया गया। काल के उसी चक्र में बौद्ध संघ ने ब्राह्मणवाद के महिला–विरोधी रुख को गले लगाया जिसने लगातार महिलाओं को अपूर्ण, दुष्ट, नीच, कपटी, विध्वंसक, विश्वासघाती, नमकहराम, अविश्वासी, चरित्रहीन, गिरी हुई, कामुक, ईर्ष्यालु, लालची, बेलगाम, मूर्ख व फ़िज़ूलख़र्चीली जैसे विशेषणों से विभूषित किया था।[13] इस

[13]GS.I.93; KS.I.146; J.I.111, 285, II.474, 478, 527, IV.124-25.

रुख से यह विश्वास सषक्त हुआ कि महिलाएँ पुरुषों द्वारा कुचली, नियंत्रित व विजित की जाएँ इस प्रकार के तर्क ने भिक्षुणी–संघ के अस्तित्व को प्रत्यक्षतः जड़ से उखाड़ फेंका और महिलाओं के अस्तित्व को हाशिये पर ला खड़ा किया।

महिलाओं के प्रति प्राचीन भारतीय बौद्ध रुख का मूल्यांकन करते समय यह ध्यान रखना जरूरी है कि हमारी अधिकतर व्याख्या संघ व इसके सदस्यों के कार्यकलापों पर आधारित है। बुद्ध या फिर संघ का वृहत् समाज की गतिविधियों पर अत्यन्त कम या फिर नहीं के बराबर नियंत्रण था। लेकिन दूसरी तरफ, समाज बौद्ध संघ के फैसलों को कई प्रकार से प्रभावित कर सकता था, क्योंकि संघ विभिन्न प्रकार के समर्थन के लिए समाज पर निर्भर था। बुद्ध जैसे महान् व्यक्तित्व के अभाव में, आक्रामक पुरुष–प्रधान प्राचीन भारतीय ब्राह्मण समाज के प्रभाव से बचना असंभव रहा होगा। प्राचीन भारत की ब्राह्मणीय व्यवस्था में कार्यरत उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों को सामान्य तथा महिलाओं को इसका अपवाद माना गया। इस व्यवस्था ने पुरुषों को समाज द्वारा मूल्यवान मानी जानेवाली सभी स्थितियों को धारण करने हेतु वैध स्वामी माना, जबकि महिलाओं को पुरुषों द्वारा अपनी स्थिति कायम रखने हेतु मौन सहमति देनेवाली सहायिका के रूप में देखा। दूसरे शब्दों में, पुरुषों को महिलाओं को वश में रखने की शक्ति प्राप्त थी और धार्मिक नेतृत्व व आर्थिक शक्ति जैसी समाज द्वारा मानी जानेवाली सभी मूल्यवान वस्तुओं पर पुरुषों का एकाधिकार सुरक्षित था।[14] इसलिए प्राचीन भारत में असमानता उभयकेंद्रित–पितृसत्ता का मौलिक आधार था जिसके तहत पुरुष स्त्रियों पर वास्तविक शासन चलाते थे तथा खुद नियम व उनका प्रचलन तय करते थे जिनके दायरे में रहकर महिलाओं को अपना जीवन निर्वाह करना पड़ता था।

---

[14]यह याद रखने योग्य बात है कि पितृसत्ता मानव–जैविकी की अवष्यंभावी आवष्यकता नहीं थी बल्कि मानव इतिहास के एक निष्चित काल की सांस्कृतिक रचना थी *(*देखें, Gerda Lerner, *The Creation of Patriarchy*, New York: Oxford University Press, 1986*).*

वे महिलाएँ जो इन नियमों का अनुसरण नहीं करती थीं या बहुत–सी वे जो करती थीं, उन्हें एक अन्य प्रकार के पुरुष प्रभुत्व को शारीरिक हिंसा के रूप में झेलना पड़ता था। महिलाओं पर पुरुष–प्रधानता ने सामाजिक पदानुक्रम व दमन के सभी रूपों को आधार प्रदान किया।[15] लेकिन प्राचीन भारत में उभयकेंद्रवाद व पितृसत्ता के सबसे अपमानजनक पक्षों में एक पुरुषों का महिलाओं पर अर्जित या योग्यता–आधारित होने के बजाय स्वचालित अधिकार की स्थापना करना था। ब्राह्मणवाद का तापसिक नारीद्वेष *(ascetical misogyny)* नारी एवं नारी–जाति के प्रति अपनी अभिव्यक्ति में उससे भी अधिक नकारात्मक तथा आक्रामक था। इसके द्वारा व्यक्त की गई चिंता की विशेष सूची में महिलाओं को बर्बादी, दुचित्त व तबाही की धरोहरों के रूप में माना गया। बौद्ध धर्म का तपस्वीकरण व ब्राह्मणीकरण भारतीय महिलाओं के इतिहास में न केवल एक काला अध्याय था, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप भिक्षुणी–संघ का अस्तित्व समाप्त हो गया, बल्कि बौद्ध धर्म के लिए भी यह एक त्रासदी थी, क्योंकि इससे इसकी पहचान के एक पहलू का अन्त हो गया था।

त्रिपिटक में बार–बार हुए संशोधनों की वजह से महिलाओं के सम्बन्ध में अभिव्यक्त किए गए विचारों की विविधता मिलती है। ये विचार असामान्य रूप से सकारात्मकता से लेकर पूर्ण निन्दा व अपमान तक से ओतप्रोत हैं। विचारों की इस विविधता को समझने के लिए उस विषेष सांस्थानिक या बौद्धिक संदर्भ की पहचान करना अत्यावश्यक है,

---

[15]षक्ति का दुरुपयोग एक मुख्य मानवीय समस्या है, और उभयकेंद्रवाद व पितृसत्ता में षक्ति का भरपूर दुरुपयोग होता है। असल में, आधुनिक काल में उभयकेंद्रवाद व पितृसत्ता को सैन्यवाद के उ˜व, पषुओं पर हिंसा तथा पर्यावरण की परिस्थिति के ख़तरनाक प्रयोग से सीधे जोड़ा जा सकता है। ऐसा निष्कर्ष इस तथ्य पर आधारित है कि इन सभी नीतियों में एक ऐसा रुख साझा है जो एक समुदाय के दूसरे समुदाय पर प्रभुत्व के गुणगान तथा अनुमोदन को अवष्यंभावी व सही मानता है।

जिसमें से इस तरह के प्रत्येक विचार का उ˜व हुआ।[16] केट ब्लैकस्टॅन के विचार में बौद्धों का नारीद्वेषक रुख इस तथ्य की उपज था कि महिलाओं की दीक्षा को धर्म व विनय के लिए एक गम्भीर व अपरिहार्य खतरे के रूप में देखा गया।[17] पालि विनय में बुद्ध द्वारा अपनी सत्ता को संघ को एक सामूहिक निकाय के रूप में सतर्कतापूर्वक सौंपे जाने का विवरण मिलता है और यदि उस सत्ता को अंतर्निहित पुरुषत्व के रूप में प्रदर्शित किया जाए, तो इस तर्क को मानने पर, महिलाओं को संघ का पूर्ण सदस्य नहीं माना जा सकता है।[18] संघ में महिलाओं की उपस्थिति भारी त्रासदी के रूप में चित्रित है[19] और ब्लैकस्टॅन ने इसमें

---

[16]इस प्रकार का नानाविध, यहाँ तक कि कभी–कभी परस्पर–विरोधी, मत एक ही ग्रंथ में प्रायः देखा जा सकता है। ऐसी विरोधोक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भिक्षुणी–संघ की स्थापना का प्रसंग है। इस कहानी में गौतम बुद्ध यह स्वीकार करते हैं कि महिलाएँ, असल में, निर्वाण का उच्चतम लक्ष्य प्राप्त कर सकती हैं लेकिन साथ ही यह भी जोड़ देते हैं कि दुर्भाग्यवष भिक्षुणी–संघ की स्थापना होने से बुद्ध–धर्म की आयु आधी रह जाएगी– “यदि महिलाओं को गृहस्थी जीवन छोड़कर दीक्षा प्राप्त करने की आज्ञा न दी जाती तब धर्मपरायणता का जीवन लम्बे समय तक क़ायम रहता, एक हजार वर्ष तक... लेकिन अब... क्योंकि महिलाओं ने दीक्षा प्राप्त कर ली है... धर्मपरायणता का जीवन अधिक समय तक नहीं चलेगा... केवल 500 वर्ष।” *(*A.IV.278*)*.

[17]Buddhist misogynistic attitude grew out of the fact that women’s ordination was perceived as a serious and inescapable threat to the *dhamma* and *vinaya* *(*Kate Blackstone, “Damming the Dhamma: Problems with Bhikkhunīs in the Pāli Vinaya,” a paper presented at the *Twelfth Conference of the International Association of Buddhist Studies*, Lausanne, Switzerland, August 1999*)*.

[18]*Ibid*.

[19]इसकी तुलना डकैतों द्वारा लूटे गए घर, फफूँदी/ सफेदा (सेतट्ठिक) से ग्रस्त धान की फसल तथा लाल रोग (मांजेष्ठिका) से संक्रमित गन्ने के खेत से की गई है।

एक महत्त्वपूर्ण सुराग खोजा है कि महिलाओं का दीक्षित होना क्यों खतरे की निशानी मानी गई और कैसे संस्थागत दमन का प्रयोग इससे बचने के लिए किया गया था।[20] लेकिन विद्वानों द्वारा इसकी व्याख्या करने के प्रयास को दो विरोधी गुटों में बाँटा जा सकता है। एक गुट इसकी व्याख्या समतावादी रुख को बाद के नारीद्वेषक संपादकों द्वारा बदल दिये गए रुख[21] के द्वारा करता है और दूसरा गुट इसे एक अन्तर्निहित सेक्सवादी, यहाँ तक कि थेरवादी नारीद्वेषक, रुख से धीरे–धीरे सुधरकर महायान और वज्रयान में लैंगिक समतावाद के विकास[22] के रूप में देखता है।

---

[20]Kate Blackstone, *Op. Cit.*

[21]An egalitarian attitude later modified by misogynistic editors. ऐसा विचार सबसे पहले इसालिन हॉर्नर (I.B. Horner) द्वारा व्यक्त किया गया था (*Women Under Primitive Buddhism: Laywomen and Almswomen*, Delhi: Motilal Banarsidas, 1975: 193)। लेकिन अब अनेक विद्वान इस मत के साथ सहमति व्यक्त करते हैं, विषेषकर नैन्सी बार्नेस् (Nancy S. Barnes, “Buddhism,” A. Sharma (ed), *Women in Religion*, Albany: State University of New York, 1987: 105-133), कौर्नेलिया चर्च (Cornelia D. Church, “Temptress, Housewife, Nun: Women’s Role in Early Buddhism,” *Anima*, I, 1975: 54), रीटा ग्रॉस (Rita Gross, *Buddhism After Patriarchy: A feminine History, Analysis, and reconstruction of Buddhism*, Albany: State University of New York, 1992: 34-38), काजियामा युइचि (Kajiyama Yuichi, “Women in Buddhism,” *Eastern Buddhist*, NS, XV, No. 2, Autumn 1982: 53-70) तथा टैसा बार्थोलोम्युज़ (Tessa Bartholomeusz, *Women Under the Bo Tree*, a PhD Dissertation submitted to the University of Virginia, 1991: 55-61).

[22]A bit-by-bit betterment from an inherently sexist, even misogynist attitude in Theravāda, to the growth of sexual egalitarianism in Mahāyāna and Vajrayāna. उदाहरणतया, डायना पॉल प्रारम्भिक बौद्ध ग्रंथों के नारीद्वेष को उनके उस भारतीय संदर्भ में देखती हैं जिसमें उनका विकास हुआ (Diana Paul, *Women In Buddhism: Images*

व्यक्तिगत रूप से बुद्ध ने संघ के भीतर महिलाओं को पुरुषों के समान दर्जा प्रदान किया। प्राचीन भारतीय बौद्ध साहित्य में पाए जाने वाले महिला–विरोधी वक्तव्य विहार के विषिष्ट वर्ग के उन सदस्यों द्वारा बुद्धवचन में जोड़े गए क्षेपक हैं, जिनके महिलाओं के प्रति

---

of the Feminine in Mahāyāna Tradition, Berkeley: University of California Press, 1979: 245-302)। कैर्न लैंग तथा जैनिस विल्लिस के अनुसार, जब हम पालि ग्रंथों से महायान ग्रंथों की ओर बढ़ते हैं तो महिलाओं के चित्रण में एक सकारात्मक प्रगति देखने को मिलती है ("Lord's Death's Snare: Gender-related Imagery in the *Theragāthā* and the *Therīgāthā*," *Journal of Feminine Studies in Religion*, 2, 1986: 78; Janice Willis, "Nuns and Benefactresses: The Role of Women in the Development of Buddhism," Y. Haddad & E. Findly (eds), *Women, Religion, and Social Change*, Albany: State University of New York Press, 1985: 59-85)। हालाँकि रीटा ग्रॉस थेरीगाथा जैसे प्रारम्भिक पालि ग्रंथों में महिलाओं के सकारात्मक चित्रण को स्वीकार करती हैं, तथापि उनका कहना है कि आद्य समतावाद का संपूर्ण विकास वज्रयान के उ˜व से होता है (Rita Gross, *Buddhism After Patriarchy: A feminine History, Analysis, and reconstruction of Buddhism*, Albany: State University of New York, 1992: 57, 114)। महिलाओं के संघ में प्रवेष के महत्त्व पर किए गए विभिन्न अध्ययनों में से कुछ इसे समाजषास्त्रीय नज़रिये से देखते हैं (उदाहरणतया, C. Kabilsingh, *A Comparative Study of Bhikkhunī Pātimokkha*, Varanasi: Chaukhambha Orientalia, 1984; Mohan Wijayaratna, *Les MonialesBouddhistes: Naissance et Developpment du Monachisme Feminin*, Paris: Ed. Du Cerf, 1991: 29-30 and *Buddhist Monastic Life: According to the Texts of the Theravāda Tradition*, tr. C. Grangier & S. Collins, Cambridge: Cambridge University Press, 1990: 158-163) और कुछ इसकी भाषा को विनय के विधिवादक प्रवचन में निर्धारित करते हैं (उदाहरणतया, Ute Hhsken, "Die Legende von der Einrichtung des buddhistischen Nonnenordens im Vinaya-Piṭaka der Theravādin," R. Grhnendahl *et al* (eds) *Studien zur Indologie und Buddhismuskunde*, Bonn: Indica et Tibetica Verlag, 1993: 151-170)।

रुख को, कम–से–कम कुछ सीमा तक, विभिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों ने आकार प्रदान किया।[23] पालि त्रिपिटक का बड़ा भाग तृतीय बौद्ध संगीति में संकलित हुआ प्रतीत होता है।[24] बुद्धवचन तय करने के लिए बुलाई गई इस संगीति व इससे पहले की दो संगीतियों में प्रबल उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक भिक्षु अपने विचार थोपने में सफल रहे। बुद्ध का युग गंगा नगरीकरण के उ˜व व विकास के साथ–ही–साथ व्यक्तिवाद के उदय और तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति के हाशिये पर सामाजिक व आध्यात्मिक रूप से रह रहे लोगों पर इसके प्रभाव का गवाह था। उभरती नई सामाजिक व्यवस्था की विद्यमान सामाजिक मूल्यों के बचाव में बहुत कम दिलचस्पी थी और ऐसे वातावरण में महिलाएँ व निचले सामाजिक तबके के लोग आम तौर पर अपनी पसंद के धार्मिक लक्ष्य को पाने व प्रकट करने में अधिक स्वतंत्र थे। जिस प्रकार बुद्ध द्वारा स्थापित लक्ष्य किसी खास वर्ग में पैदा हुए लोगों के लिए नहीं था, उसी प्रकार यह केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं था। दोनों ही स्थितियाँ परम्परागत सामाजिक व लिंग विकृतियों से कहीं परे के सद्गुण व आध्यात्मिक संभावना को खोजने के प्रयास को प्रदर्शित करती हैं। दोनों को ही वैयक्तिकता की एक नई उभर रही चेतना के साक्ष्य के रूप में देखा जा सकता है जिसने वैदिकोत्तर काल में सीमित जैविक व सामाजिक बाध्यताओं पर अग्रता लेने की शुरुआत की। बहुत–सी महिलाओं ने बुद्ध द्वारा मुहैया कराए गए इस अवसर का फायदा उठाया। अनेक महिलाएँ बुद्ध की हितकारिणियाँ थीं, जो इस

---

[23]The anti-women statements are an interpolation into the original *Buddhavacana* by the monastic élite whose attitude toward women was shaped, at least partly, by the various historical developments. देखें, Alan Sponberg, "Attitudes towards Women and the Feminine in Early Buddhism," Jose Ignacio Cabezon (ed), *Buddhism Sexuality, and Gender*, Albany: State University of New York Press, 1992: 3-36.

[24]Chandradhar Sharma, *A Critical Survey of Indian Philosophy*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1983: 70.

बात का संकेत है कि उस समय न केवल बड़ी संख्या में स्वतंत्र साधनों वाली महिलाएँ थीं बल्कि नवजात संघ को पालने–पोसने में उनकी भूमिका भी प्रषंसनीय थी। बुद्ध की शिष्याओं में कुछ साधारण शिष्याएँ ही बनी रहीं और कुछ ने भिक्षुणियाँ बनने के लिए सांसारिक मोहमाया को त्याग दिया। भिक्षुणी या कुँआरी की भूमिका में, मानवीय अन्तःषक्ति की उपलब्धि के लिए लैंगिकता के महत्त्व को अनदेखा किया जा सकता था। जननी की भूमिका में, कामवासना को सामान्यतया एक नियंत्रित अवस्था के रूप में देखा गया है। बुद्ध ने पुरुषों व महिलाओं को एक एकीकृत व्यक्तित्व के पूरक पहलुओं के तौर पर करुणा व बुद्धि के रूप में देखा। निस्संदेह गौतम के अनुचरों में कई ऐसी महिलाएँ थीं जो पूर्ण रूप से प्रबुद्ध मानी जाती थीं। भारतीय बौद्ध साहित्य का प्रारंभिक स्तर इस तथ्य को मानता है कि महिलाएँ अर्हत् बन सकती थीं और कई बनीं भी जो मानवीय अस्तित्व को यथार्थ बनानेवाले मानसिक एवं जैविक दुःखों से पूर्णतः मुक्त थीं। त्रिपिटक में उपलब्ध सूचना के अनुसार महिलाओं में ऐसी अर्हतों के कई उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने सांसारिक जीवन का त्याग कर दिया था और यहाँ तक कि मगध के राजा की पटरानी, खेमा जैसी महिलाओं के कुछ उदाहरण भी हैं जिन्होंने गृहस्थ जीवन त्यागने से पहले ही बुद्धत्व प्राप्त कर लिया था! पाटाचारा व सोणा जैसी कई प्रसिद्ध महिला अनुचर धर्म–प्रवचन में निपुणता के लिए जानी जाती थीं; खेमा जैसी महिलाओं के प्रति, धर्म का गहरा ज्ञान रखने के लिए, स्वयं बुद्ध के मन में उच्च श्रद्धा थी। कुछ भिक्षुणियों का अपना व्यक्तिगत शिष्य–समुदाय था जो न केवल धर्म प्रस्तुत करने में समर्थ थीं, बल्कि वे बुद्ध या कुछ दूसरे वरिष्ठ भिक्षुओं की मध्यस्थता के बिना भी नए महत्त्वाकांक्षियों को संपूर्ण मुक्ति तक पहुँचा सकता थीं। यद्यपि त्रिपिटक में बहुत–सी महिलाओं को दूसरी महिलाओं की शिक्षिकाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है, लेकिन फिर भी इन ग्रंथों के प्रति संकुचित मानसिकता रखनेवाले संपादकों ने धम्मदिन्ना जैसी महिलाओं के कुछ वृत्तांत बचाकर रख लिए, जिसे भिक्षुणी बनने के बाद अपने पूर्व–पति विसाख को निर्देश देने का मौका

मिला। जैसा कि चूळवेदल्लसुत्त[25] में बताया गया है, धम्मदिन्ना, विसाख द्वारा सिद्धांत व व्यवहार के पहलुओं से सम्बन्धित पूछे गए प्रश्नों की एक लंबी श्रृंखला का उत्तर देती है। विसाख एक प्रसिद्ध व्यापारी व अयाजकीय बौद्ध शिक्षक था और जैसा कि अट्ठकथाएँ बताती हैं, उसका अपना एक महत्त्वपूर्ण शिष्य–समुदाय था। विसाख, बाद में, धम्मदिन्ना के उत्तरों से बुद्ध को अवगत कराता है और बुद्ध बड़े खुश होकर कहते हैं कि वे भी बिलकुल धम्मदिन्ना की तरह ही उत्तर देते। इस सुझाव का पर्याप्त प्रमाण है कि महिलाएँ न केवल आरंभिक बौद्ध समुदाय में स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं, बल्कि साधिकाओं व शिक्षिकाओं दोनों ही रूपों में प्रमुख व सम्माननीय जगह भी बनाए हुए थीं। जैसे ही हम बुद्धोत्तर काल में पहुँचते हैं तो महिलाएँ संरक्षिकाओं व दानकर्त्तृयों के रूप में दृष्टिगोचर तो होती हैं, लेकिन भिक्षुणी–संघ को वह प्रतिष्ठा या सृर्जनात्मकता मिलती प्रतीत नहीं होती है, जैसी कि खेमा, धम्मदिन्ना व आरंभिक अर्हत् भिक्षुणियों की उत्तराधिकारिणियों को मिलने की आशा की जा सकती थी।[26] प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में न केवल महिलाओं के लिए धर्मपथ खुला था, बल्कि, वास्तव में, यह रास्ता महिलाओं व पुरुषों दोनों के लिए एक ही प्रकार का था। ऐसी बात नहीं कि लिंग–भेद विद्यमान नहीं थे, लेकिन वे “मुक्ति प्राप्त करने की दृष्टि से नगण्य” (soteriologically insignificant)[27] थे जो अधिक से अधिक मुक्ति के वास्तविक लक्ष्य में विपथक हो सकते थे। जब सामावती सहित राजा उदेन की 500 पत्नियाँ आग में जल मरीं तो इस दुःखद घटना पर बुद्ध ने टिप्पणी करते हुए कहाः “भिक्षुओं, इनमें से कुछ महिलाएँ अनुयायी

---

[25]M.I.298-305.

[26]But as we move into the post-Buddha period, though whereas women patrons and donors remain quite visible, the bhikkhunī-saṃgha does not appear to have enjoyed the prestige and creativity one might have expected of the successors of Khemā, Dhammadinnā, and the early arahat nuns. (A. Sponberg, *Op. Cit*. 7).

[27]वही.9.

प्रवाह–विजेता, कुछ एक बार लौटनेवालीं और कुछ कभी न लौटनेवालीं हैं।"[28] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि महिलाएँ मुक्ति–मार्ग के उन विभिन्न चरणों को प्राप्त करने में पूरी सक्षम मानी गई थीं, जिसके माध्यम से अर्हत् बना जाता है।

> "और चाहे महिला हो, या पुरुष उनके लिए
> ऐसा रथ प्रतीक्षा करेगा, उसी रथ पर चढ़कर
> वे निर्वाण की स्थिति में पहुँच जाएँगे।"[29]

इस प्रकार के पद्य यह निर्देष करते हैं कि परंपरागत रूप से जो भी सीमाएँ महिलाओं पर थोपी गई हों, उन्हें न तो बौद्ध रीति–रिवाज से किसी भी रूप से अलग रखा जा सकता था और न ही अंतिम लक्ष्य, अर्थात् निर्वाण प्राप्त करने से रोका जा सकता था। सामाजिक रूप से उग्र होते हुए भी, यह स्थिति बुद्धवचन के मूल दार्शनिक सिद्धांतों के बिल्कुल अनुकूल थी। यह इस मायने में एक क्रांतिकारी सफलता थी कि महिलाएँ मुक्ति की बौद्ध खोज में स्पष्ट रूप से शामिल थीं। दूसरे शब्दों में, बुद्ध व आनन्द जैसे उनके कुछ सहयोगियों का यह स्पष्ट मानना था कि जाति की तरह लिंग भी किसी व्यक्ति द्वारा दुःख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था। लेकिन, भिक्षुणी–संघ की स्थापना का षायद एक नकारात्मक परिणाम भी रहा होगा। अल्तेकर के अनुसार, जैन व बौद्ध धर्मों में भिक्षुणियों के लिए विहारों की स्थापना, माता–पिता की इच्छा के विरुद्ध दीक्षा लेने वाली कई कुँआरी लड़कियों में से कुछ का बाद में उच्च आध्यात्मिक आदर्श से गिर जाने की घटनाओं से इस बात को बल मिला होगा कि लड़कियों का विवाह यथाषीघ्र विषेषकर किशोरावस्था से पहले ही कर दिया जाना। इसलिए निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भिक्षुणी–संघ की स्थापना के बाद, लड़कियों का विवाह करने योग्य

---

[28]Ud.VI.x.

[29]S.I.5-6.

आयु में लगातार कमी की जा रही थी।[30] आधुनिक थेरवादी देशों में भिक्षुणी–संघ का प्रायः न होना भी महिलाओं के खिलाफ दक्षिण एशियाई समाज के इस स्वाभाविक पक्षपात को प्रदर्शित करता है। लेकिन जैसा कि हॉर्नर ने कहा है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बुद्ध ने "उनमें पुरुषों की तरह ही अच्छाई व अध्यात्मिकता की अन्तःषक्ति को देखा।"[31]

बौद्ध धर्म ने महिलाओं को विद्यमान ब्राह्मणवाद की तुलना में अधिक अच्छे अवसर प्रदान किए।[32] भिक्षुणी–संघ के माध्यम से, महिलाओं के पास अपनी पारिवारिक भूमिकाओं के स्थान पर एक विकल्प भी उपलब्ध था। एक या दूसरे रूप में, इस धर्म में लैंगिक समानता और लिंग की अंतिम अप्रासंगिकता के बारे में उपदेश निहित थे। लेकिन, संघ में उनके सहयोगी, खासकर उनकी मृत्यु के बाद, लोकप्रचलित और प्रायः नारी–द्वेषी विद्यमान ब्राह्मणीय संस्कृति से उपजे गैर–बौद्धीय विश्वासों पर भरोसा करते थे जो यह मानते थे कि एक महिला को हमेशा अपनी रिष्तेदारी के किसी पुरुष– पिता, पति या पुत्र के नियंत्रण में रहना चाहिए। परंपरागत बौद्ध चिन्तन ने भले ही यह स्वीकार किया हो कि भारतीय उभयकेंद्रित–पितृसत्ता महिलाओं के लिए

---

[30]After the establishment of the bhikkhunī-saṃgha, the marriageable age of girls was being constantly lowered. (A.S. Alterkar, *The Position of Women in Hindu Civilization*, 3rd edition, Delhi: Motilal Banarsidass, 1974: 54-55).

[31]The Buddha "saw the potentially good, the potentially spiritual in them as he saw it in men." (I.B. Horne, *Op. Cit*.XXIV).

[32]एक दिलचस्प अध्ययन में, कैथरिन यंग ने विष्व के मुख्य धर्मों को अधिकतम घोषित या औपचारिक पुरुष–प्रधानता से लेकर अधिकतम निष्कपट नारी–षक्ति की स्वीकृति या अन्तर्वेषन तक सातत्य के रूप में पैमाने पर वर्गीकृत किया। उसने यह क्रम सुझाया–यहूदीवाद, हिन्दु धर्म, कन्फ्यूषियसवाद, इस्लाम, ईसाई धर्म, तथा बौद्ध धर्म। (देखें, Katherine K. Young, "Introduction," Arvind Sharma (ed), *Women in World Religions*, Albany: State University of New York Press, 1987: 16.)

प्रतिकूल थी, लेकिन उनकी अक्षमताएँ उनके पिछले जन्म में जमा किए गए कर्म के परिणाम के रूप में देखी गईं। लेकिन, महिलाएँ पुरुष के रूप में पुनर्जन्म लेकर भविष्य में अपने दुःखों से छुटकारा पा सकती हैं। नारीवादी मूल्यों के हिसाब से यह समाधान चाहे जितना भी असंतोषजनक हो, कम–से–कम यह विचार स्वीकार करके कि पुरुष–प्रधानता महिलाओं के लिए कठिन व दुःखदायी होती है, भविष्य में आशा की किरण दिखाने का प्रयास करता है।[33] एक नारीवादी मत रखनेवाला यह जरूर सुझाएगा कि जिस चीज़ से छुटकारा पाने की आवष्यकता है वह भविष्य में महिलाओं के रूप में पुनर्जन्म नहीं, बल्कि वे वर्तमान परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने महिला–जीवन को कठिन व असहनीय बना दिया है। इस प्रकार, कुछ तर्कसंगतता के साथ यह कहा गया है कि हालाँकि आरम्भिक भारतीय बौद्ध धर्म में एक सषक्त नैतिक परम्परा उपस्थित थी, उसकी सामाजिक सक्रियतावाद व आलोचना की परम्परा उतनी सषक्त नहीं थी। एक तरह से समाज को अपरिवर्तनीय मानने तथा "दमन को दमन कहने की इच्छाशक्ति व साहस"[34] की कमी के कारण बौद्ध धर्म की आलोचना भी की गई है।

यदि पारिवारिक जीवन दमनात्मक था (जैसा कि वास्तव में था और अब भी है) तो जहाँ तक बौद्ध धर्म का प्रश्न है, विहार–व्यवस्था महिलाओं के लिए आमतौर पर परिमोचक था। प्रायः महिलाओं के लिए उनका विहार–जीवन आमतौर पर पुरुषों को उपलब्ध आत्म–निर्णय व प्रतिष्ठा के लगभग बराबर था। लेकिन इसकी अपनी कई समस्याएँ थीं क्योंकि महिला–संघ पुरुषों की मठीय व्यवस्था की अपेक्षा बहुत ही कम सफल रहा। भिक्षुणियों के रूप में महिलाओं को पुरुषों की तुलना में बहुत कम आर्थिक सहयोग व प्रतिष्ठा मिले तथा धार्मिक अनुष्ठान और अध्ययन का भी बहुत ही कम अवसर प्राप्त हुआ। दूसरी कई धार्मिक

---

[33] Rita M. Gross, *Feminism and Religion: An Introduction*, Boston: Beacon Press, 1996: 139.

[34] "the willingness and the courage to name oppression as *oppression*" (Diana Y. Paul, *Op. Cit*.145).

परम्पराओं की भाँति बुद्धोत्तर बौद्ध धर्म में भी पुरुषों के ब्रह्मचर्य की रक्षा महिलाओं को एक सीमित दायरे में पृथक् कर के या रोक कर की गई। इन संस्थानों के पास यह अधिकार भी था कि वे महिलाओं के उच्चतम स्तर की षिक्षा ग्रहण करने व व्यवसायिक वातावरण पर प्रतिबन्ध लगा सकें। आदर्श उदाहरण के रूप में उपस्थित करने योग्य महिलाओं की संख्या पुरुषों की तुलना में अधिक नहीं थी। इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि वे अपने समाज व अपने धर्म के संस्थागत ढाँचे द्वारा काफी हद तक समर्थित नहीं थीं।

कुछ लोगों ने बुद्ध की इसलिए आलोचना की है कि उन्होंने अपनी पत्नी व पुत्र का परित्याग कर दिया था। लेकिन इस तरह की आलोचना अनुचित है। सिद्धार्थ द्वारा अपनी पत्नी व पुत्र का परित्याग करने के सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक है कि यह घटना उस समय घटी थी जब बुद्ध एक साधारण व्यक्ति थे और उन्होंने तब तक बोधि प्राप्त नहीं की थी। वे परिस्थितियाँ व मानसिक उलझन, जिनके दौरान उन्होंने उन्हें छोड़ा, उन विद्यमान परिस्थितियों से प्रेरित थीं जिनके तहत आध्यात्मिक ज्ञान पाने की चेष्टा रखनेवालों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे "मनुष्य की तीन सार्वभौम बेड़ियों– धन, स्त्री व प्रतिष्ठा को ठोकर मारें।"[35] ज्ञान–प्राप्ति के लिए सिद्धार्थ ने ब्राह्मणवाद की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए दुनिया त्यागी थी और इस चरण की उनकी गतिविधियों को बोधिप्राप्ति के बाद के उनके विचारों व कार्यों के मूल्यांकन के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। पहली बौद्ध संगीति के दौरान आनन्द पर दोषारोपण भी यह सिद्ध करता है कि जब बुद्ध अपने शिष्यों को निर्देश देने या नियंत्रित करने के लिए जीवित नहीं रहे तो उनके शिष्यों का दृष्टिकोण काफी कठोर हो गया था। फिर भी बौद्ध समुदाय में महिलाओं का दमन सार्वभौम नहीं रहा होगा। जबकि महिलाओं को सचमुच में नियम व व्यवहार के द्वारा निम्नतर स्तर पर सीमित कर दिया गया था, इतिहास इसके

---

[35] "kick away gold, women and fame, the three universal fetters of man." ***(वही.6.)***

प्रतिकूल उदाहरणों को भी प्रस्तुत करता है। टैस्सा बार्थोलोम्युज़ ने दिखाया है कि कैसे संघमित्रा का मामला इस विचार को पुष्ट करता है। वह शक्तिशाली भारतीय राजा अशोक की बेटी थी जिसने उसे भिक्षुणी–संघ स्थापित करने के लिए श्रीलंका भेजा था। यह उस उच्च स्थान का संकेत है जो एक महिला बौद्ध पदानुक्रम में बना सकती थी और इससे यह भी आभास मिलता है कि कम–से–कम अशोक के समय में बौद्ध सिद्धान्त में ऐसा कुछ भी नहीं था जो महिलाओं को पुरुष के बराबर माने जाने पर प्रतिबन्ध लगा पाता।[36] पालि त्रिपिटक में कुछ सन्दर्भ मिलते हैं जिनमें महिलाओं की उपस्थिति को स्वीकार ही नहीं किया गया, बल्कि उनकी प्रशंसा भी की गई है। उदाहरण के लिए, खेमा को बुद्ध ने स्वयं अनुदेषित किया था। किंवदन्ती के अनुसार जब उसकी शिक्षा पूरी हुई तब वह धर्म व इसके अर्थ पर पूर्ण पकड़ के साथ अर्हत्त्व पा चुकी थी। उसके बाद खेमा अपने महान अंतर्ज्ञान के लिए जानी जाने लगी और खुद बुद्ध ने उसे उच्च स्थान प्रदान किया।[37] उसी प्रकार, एक समारोह से लौटती हुई सुजाता ने बुद्ध का प्रवचन सुना और उसने रूप व अर्थ में धर्म की पूर्ण पकड़ के साथ अर्हत्त्व प्राप्त किया।[38] किसागौतमी ने भी बुद्ध द्वारा दिए गए धर्म उपदेश को समझने के बाद अर्हत्त्व प्राप्त किया।[39] भिक्षुणी समा के बारे में कहा जाता है कि उसने आनन्द के उपदेशों को सुना और इस प्रकार अर्हत् बन गई।[40] चित्ता को महाप्रजापति गौतमी ने धर्म में दीक्षित किया था जिसके बाद उसने अर्हत्त्व प्राप्त किया।[41] उसी प्रकार, भिक्षुणी मुत्ता ने

---

[36]Tessa Bartholomeusz, "The female Mendicant in Buddhist Sri Lanka," Jose Ignacio Cabezon (ed), *Op. Cit*.38-51.

[37]Thī.61.

[38]Thī.69.

[39]Thī.89.

[40]Thī.34.

[41]Thī.36.

न केवल तीन अंकुषाकार चीजों–चक्की, ओखली व पति से, बल्कि पुनर्जन्म व मृत्यु से भी मुक्ति पाई।[42] उपर्युक्त सभी उदाहरण सिद्ध करते हैं कि बुद्ध ने महिलाओं का पुरुषों के समान ही आदर किया व उनमें से कई को अपनी शिक्षाएँ स्वयं प्रदान कीं।

भिक्षुणी–संघ की स्थापना, भिक्षु–संघ की स्थापना के पाँच वर्षों बाद की गई थी।[43] भिक्षुणी–संघ के आरम्भिक चरणों में, भिक्षुणियों ने भिक्षुओं से न केवल आनुशासनिक कार्यों के विभिन्न रूपों को, बल्कि ज्ञान के विभिन्न पक्षों को भी सीखा होगा। यहाँ, यह बात ध्यान देने लायक है कि बुद्ध द्वारा महिलाओं को दिए गए सामाजिक व आध्यात्मिक अवसर अनपेक्षित रूप से क्रांतिकारी होने के कारण, पुरुषों, विषेषकर भिक्षुओं द्वारा इस पर आपत्ति किया जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। परिणामस्वरूप, उन्हें इस वास्तविकता का एहसास अवश्य रहा होगा कि उनकी शिष्याएँ निरन्तर प्रताड़ित व अपमानित की जाएँगी। इसके अतिरिक्त, यह भय भी स्वाभाविक था कि भिक्षुणियाँ पुरुष–हिंसा की शिकार होंगी और यह भिक्षुणियों के विरुध पुरुष–हिंसा की विभिन्न घटनाओं से तथा इस प्रकार की हिंसा को रोकने के लिए बनाए गए नियमों से भी सिद्ध होता है। इस प्रकार, जैसा कि रीटा ग्रॉस ने संकेत किया है कि इन नियमों द्वारा महिलाओं के अकेली यात्रा व काम करने पर सामान्यतः प्रतिबंध लगाया गया था, ठीक उसी प्रकार जैसे कि आज हम प्रायः महिलाओं को असामान्य समय में असुरक्षित जगहों पर न जाने का सुझाव देते हुए उन पर सम्भावित पुरुष–हिंसा का प्रतिकार करते हैं।[44] मानवीय बस्तियों की बाहरी सीमा पर विहारों की स्थापना के परिणामस्वरूप, भिक्षुणियों के आम लोगों द्वारा छिद्रान्वेषण, फायदा उठाए जाने या यहाँ तक कि अकेले होने के कारण यौन–प्रताड़ना की

---

[42]Thī.11.

[43]Kajiyama Yuichi, *Op. Cit.*159-60.

[44]Rita Gross, *Buddhism After Patriarchy: A feminine History, Analysis, and reconstruction of Buddhism*, Albany: State University of New York, 1992: 36.

भारी संभावना रहती थी। उदाहरण के लिए, एक बार कई भिक्षुणियाँ कोशल प्रदेश के मुख्य रास्ते से श्रावस्ती जा रही थीं। एक भिक्षुणी मलमूत्र त्यागना चाहती थी इसलिए वह अकेले ही पीछे ठहर गई। उस भिक्षुणी को देखकर लोगों ने उसे पथभ्रष्ट करके उसके साथ यौन–सम्बन्ध स्थापित कर लिए।[45] विनय के अनुसार, सामान्य तथा बौद्धेतर लोग भिक्षुणियों व भिक्षुओं के बुरे चरित्र की आलोचना करने की ताक में रहते थे। भिक्षुणियों व भिक्षुओं के प्रति लोगों की चुगलखोरी व उन पर दोषारोपण की घटनाएँ विनय में भरी पड़ी हैं। यह ध्यान देना जरूरी है कि भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियाँ को ही प्रायः कटु तिरस्कार झेलना पड़ता था। किसी भिक्षुणी के द्वारा कोई गलती करने पर लोग उन्हें प्रायः "सिर–मुँडी वेश्याएँ" कह कर धिक्कारते रहते थे। इसके विपरीत, जब भिक्षुओं से कोई गलती होती थी, तो लोग उनके बारे में इतने अपमानजनक शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे जितना भिक्षुणियों के लिए किया जाता था। भिक्षुणियों व भिक्षुओं की आलोचनाओं की तुलना से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय समाज में लोग भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की गलती के प्रति अधिक क्रोधित होते थे। इस तथ्य से यह भी संकेत मिलता है कि इसी कारण इस श्रेणी में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों के लिए अधिक नियम बनाए गए। समाज सामान्यतः महिलाओं के घरेलू जीवन त्यागने के पक्ष में नहीं था। समानता की धारणा को मान लिए जाने के बावजूद, महिलाओं को खुद अपना नियंत्रण व संरक्षण कर पाना सामाजिक तौर पर असम्भव था। आई. बी. हॉर्नर के विचार में, इस बात की काफ़ी संभावना थी कि वे आम तौर पर भिक्षुओं की अपेक्षा योग्यता में कम आँकी जाती थीं और इसलिए बिना किसी उद्देश्य के संघ में प्रवेश करनेवाली भिक्षुणी को छाँटने के लिए उनकी कड़ी जाँच की जाती थी।[46]

बुद्ध महिलाओं के साथ उनके व्यक्तित्व के आधार पर व्यवहार करते थे। सैद्धान्तिक रूप से वह उन्हें पुरुषों के समान

---

[45]SBB.XII.189.

[46]SBB.XX.xiv.

ही समझते थे, हालाँकि इस प्रकार की स्थिति महिलाओं की निर्वाण प्राप्त करने की योग्यता तक ही सीमित रही दिखाई पड़ती है। समाज के अन्दर महिलाओं के अधिकारों की ओर बुद्ध का ध्यान इतना नहीं गया होगा, जितना ध्यान उन्हें मिलना चाहिए था। फिर भी, यह ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है कि जब भी मौके मिले, बुद्ध ने अपने मन की ही बात की। उनके द्वारा पसेनदि को कहे गए *शब्दों से यह बात सिद्ध होती है, जो यह समाचार सुनकर दुःखी हुआ कि उसकी पत्नी ने पुत्र की जगह पुत्री को जन्म दिया था। बुद्ध ने उससे कहा कि पुत्री, वास्तव में, ज्ञानी व गुणी बनकर पुत्र से भी अधिक अच्छी सन्तान सिद्ध हो सकती है। एक बार यह जान लेने के बाद कि महिलाएँ धार्मिक जीवन अपनाने की पूरी क्षमता रखती हैं, आरम्भिक बौद्ध संघ को यह निर्णय करना था कि इस तरह के विचार से उत्पन्न रुचि के सम्बन्ध में क्या किया जाना चाहिए। आरम्भ में, कोई खास समस्या पैदा होती नज़र नहीं आती क्योंकि आन्तरिक मामलों पर प्रभुत्व व बाह्य मामलों में स्वीकार्यता के सम्बन्ध में किसी भी चिंता को समाप्त करने में बुद्ध का महान व्यक्तित्व व चमत्कार ही यथेष्ट था। लेकिन, महापरिनिर्वाणोत्तर काल में जैसे–जैसे ही संघ विकसित हुआ; उसने अपने चरित्र को बाहरी समाज के अनुसार ढालना शुरू कर दिया। इस तरह के परिवर्तन के फलस्वरूप, ऐसे बढ़ते हुए* रुख *का प्रमाण मिलता है, जिसका अर्थ था कि महिलाएँ धर्मपरायणता को पूर्णकालिक पेशा तो बना सकती हैं लेकिन केवल एक ऐसे सावधानीपूर्वक नियंत्रित संस्थागत ढाँचे के भीतर रहकर, जो पुरुष–प्रधानता व महिला–अधीनीकरण को पारम्परिक रूप से स्वीकृत सामाजिक मानकों के द्वारा सुरक्षित व सशक्त बनाता हो।*

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि भिक्षुणी–संघ की स्थापना से, बुद्ध ने महिलाओं को जिस स्तर पर धर्मपरायणता का अवसर प्रदान किया वह विश्व के इतिहास में आनेवाले लम्बे समय तक एक अद्वितीय बात रही। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मृत्यु के बाद, कुछ व्यावहारिक

तर्कों को नारी–स्वभाव की कमियों के बारे में अटकलबाज़ी करने के बहाने का आधार बना लिया गया। बुद्धोत्तर काल में जैसे–जैसे बौद्ध धर्म अधिक संस्थागत व पुरुष–प्रधान बनता गया, इस तरह की मानसिकता बौद्ध धर्म की विशेषता बन गई। संघ ने बुद्ध की मृत्यु के बाद, उनके द्वारा दिये गए धर्म–मार्गदर्शन को ऐसी सामाजिक प्रासंगिकताओं के अनुसार ढाल लिया जिनके अन्तर्गत बौद्ध समुदाय का विकास हो रहा था। बौद्ध धर्म में ऐसे प्रतिद्वन्द्व का आरम्भ लैंगिक भिन्नता की सही पहचान में से नहीं बल्कि उस अतिरिक्त कल्पना में से हुई कि जिसने इस भिन्नता के द्वारा धर्म–मार्ग पर चलने के लिए महिलाओं को निम्न सामर्थ्य का स्तर दे दिया। हालाँकि आत्मजीवनी–साहित्य के द्वारा महिलाओं के जीवन की कुछ झलकें मिल जाती हैं, लेकिन कुल मिलाकर, उसी की परख की जा सकती है जो बौद्ध पुरुषों ने ऐतिहासिक तौर पर महिलाओं के बारे में कहा था, न कि वह जिसका बौद्ध महिलाओं ने दावा किया या अनुभव किया। समता के रुख़ की तुलना में, जिसमें महिलाओं के धर्म–पथ पर चलने की क्षमता पर जोर दिया गया था, बुद्ध की मृत्यु के बाद यह ध्यान महिलाओं पर से हटकर सामाजिक समन्वय के दायरे में विद्यमान संघ की स्वस्थता पर समझे गए खतरे की ओर चला गया। ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि महिलाओं की किसी परिवार जैसे उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक सामाजिक ढाँचे द्वारा रक्षा की जाए और बौद्ध संघ ऐसी व्यवस्था प्रदान करने में असमर्थ था क्योंकि भिक्षु तो सामाजिक दायित्वों को ही त्याग चुके थे।

महापरिनिर्वाणोत्तरकालीन संघ में आए विभिन्न विरोधाभासों का समाधान प्रथम भिक्षुणी के रूप में महाप्रजापति गौतमी तथा उनके द्वारा आठ प्रतिबन्ध गुरु धर्मों की स्वीकृति की कहानी की कल्पना करके किया गया। दिलचस्प बात यह है कि महाप्रजापति गौतमी ने अपने पति की मृत्यु के बाद प्रव्रज्या प्राप्त की, जबकि तब तक अनेक महिलाएँ बुद्ध से उपसम्पदा पा चुकी थीं। उनकी प्रतिष्ठा के कारण उनका नाम मनगढ़न्त सूची में

सम्मिलित किया गया लगता है। आई.बी. हॉर्नर अनुभव करती हैं कि 500 वर्षों बाद बुद्धधर्म के पतन की भविष्यवाणी को बाद में भिक्षुओं द्वारा कल्पित किया गया प्रतीत होता है।[47] *यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इन विरोधाभासों का समाधान एक कालावधि में हुआ और* चुल्लवग्ग[48] *में दिया गया विवरण शायद उसे तर्कसंगत करने तथा उचित ठहराने की और भी बाद की कोशिश थी जो पहले से ही यथापूर्व स्थिति बन चुकी थी। साधारण तर्कसंगत व्याख्या के अतिरिक्त, एक पुनरावृत्ति विषय भी मिलता है जो विभिन्न विरोधाभासों का समाधान ढूँढने की कोशिश करता है।* महाप्रजापति गौतमी *को इस*लिए *भी चुन लिया गया प्रतीत होता है क्योंकि बुद्ध उनके अधिकतम ऋणी थे, जिस कारण एक महिला के रूप में उन्हें उच्च सम्मान प्राप्त था। कहानी विश्वसनीय बनाने के* लिए, *आरम्भ में संपादक* महाप्रजापति गौतमी *को आठ प्रतिबंधक गुरु धर्मों को तुरन्त स्वीकार करते दिखाते हैं, लेकिन बाद में उन्हें आनन्द के पास जाकर बुद्ध से प्रवरता से संबद्ध प्रथम गुरु धर्म पर ढील देने के* लिए *पूछते दिखाते हैं।*[49] *ऐसी छूट के फलस्वरूप महिलाओं को मठीय समुदाय के भीतर अत्यधिक प्रतिष्ठा व विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते और निःसंदेह भिक्षुणी–संघ का परवर्ती इतिहास काफ़ी भिन्न होता। जवाब स्पष्ट तौर पर नकारात्मक दिखाया गया है, जिसे इस आधार पर उचित ठहराया गया कि लैंगिक साम्यता बिलकुल अभूतपूर्व थी। लेकिन जब तक यह दुविधा एक सामाजिक मुद्दा बनी तब तक भिक्षुणी–संघ निश्चित रूप से काफ़ी समय से विद्यमान था। भिक्षुणियों ने निःसंदेह अपने–आप को बड़ी सफलतापूर्वक व्यवस्थित कर रखा था और शायद इस प्रस्ताव के बाद भी वे ऐसे ही कार्यरत रहीं लेकिन अब*

---

[47] I.B. Horner, *Op. Cit*. 105.

[48] अध्याय.10 ।

[49] Cv.X.257.

औपचारिक तौर पर भिक्षुओं के नियंत्रण (तथा संरक्षण) में। ऐसे समझौते ने उन्हें बेचैन तो शायद अवश्य कर दिया होगा, लेकिन यह ऐसा समझौता था जिसके द्वारा भिक्षुओं को न केवल राहत मिली होगी बल्कि स्वतंत्र–कल्प महिलाओं के असामान्य समूह को भी जितना संभव हो सकता था उतना उचित ठहराया गया होगा। लेकिन, इस कहानी में, *विनय* ***के सम्पादकों को कई और समस्याओं का समाधान भी करना पड़ा। कहानी में,*** महाप्रजापति गौतमी ***महिलाओं के नेतृत्व का कार्य करती है, जो बुद्ध के भिक्षुओं के नेतृत्व के समानान्तर चलती है।[50] प्रारम्भ में, बुद्ध द्वारा उनकी माँग अस्वीकार कर दिये जाने के बावजूद महाप्रजापति गौतमी व उनकी शिष्याएं*** केष कटाए, काषाय वस्त्र ***पहने तथा बुद्ध के धर्म व संघ का अनुसरण करती हुई दिखाई***

---

[50]जॉनाथन् वाल्टर्ज़ का विचार है कि गौतमी महाप्रजापति गौतम बुद्ध की प्रतिमूर्ति हैं। यह उनके गोत्र–नामों व गोतमी–अपदान की व्याख्या में भी प्रतिबिंबित होता है। दोनों अपने षिष्यों *(*क्रमषः स्त्रियों व पुरुषों*)* से घिरे रहते हैं, दोनों *(*क्रमषः भिक्षुओं व ***भिक्षुणियों के) 500 के गुट*** को अपनी करुणा के द्वारा मुक्ति दिलाते हैं, दोनों की क्रमषः देव व देवियाँ की उपासना करते हैं, दोंनों एक–दूसरे को सम्मान देते हैं, और *(*क्रमषः गोतमी–अपदान और महापरिनिब्बानसुत्त में*)* दोनों की मृत्यु के वर्णनों में भी एक सचेष्ट सादृष्य दिखाई पड़ता है। इन सादृष्यों के आधार पर वाल्टर्ज़ कहते हैं कि ऐतिहासिक तौर पर प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में स्त्रियों व पुरुषों के लिए दो अलग पथ थे। वाल्टर्ज़ आगे कहते हैं कि गोतमी–अपदान में महाप्रजापति का प्रस्तुतीकरण प्राचीन भारत में महिलाओं से अपेक्षित गौणता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। *(*Jonathan Walters, “A Voice from the Silence: the Buddha’s Mother’s Story,” *History of Religions*, 33/4, 1994: 358-379*)*. लेकिन, लिज़ विल्सन असहमति व्यक्त करते हुए कहती हैं कि यदि लैंगिक सम्पृक्तार्थों को गोतमी–अपदान से अलग कर दिया जाए तो सादृष्य समान होंगे। *(*Liz Wilson, *Women in the Footsteps of the Buddha: Struggle for Liberation in the Theragāthā*, Curzon: 1998: 44-45*)*.

गई हैं।[51] *ऐसी अवस्था का अर्थ होगा न केवल बुद्ध के प्राधिकारों को चुनौती देना बल्कि पूरे* विनय *में क़ायम क्रम–परम्परा को भी उलट देना।* विनय *के सम्पादकों ने इस प्रतिद्वन्द्व का समाधान फिर से भिक्षुओं का भिक्षुणियों पर (*सही *) अनुक्रम स्थापित कर के किया और इस प्रकार भिक्षु–संघ को सम्पर्क विकार की बाढ़ से बचा कर उसे (फिर से) अपनी शुद्धि प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया। कम–से–कम नाममात्र के* लिए, *भिक्षुओं के नियंत्रण को खुद पर स्वीकार करके, भिक्षुणियों ने अपने* लिए *समाज में अधिक संतोषजनक स्थान प्राप्त कर लिया होगा। लेकिन भिक्षुणी–संघ के* लिए *इस प्रकार के प्रबन्ध के दीर्घकालीन परिणाम बड़े भयानक निकले क्योंकि ऐसा होने से उनकी स्थिति दूसरी श्रेणी की हो गई जिसका कि प्रतिष्ठा, शैक्षिक अवसरों, तथा वित्तीय सहायता की कमी में प्रतिबिम्बित होना निश्चित था। थोड़ी बहुत मान्यता प्राप्त कर लेने के बावजूद, ऐतिहासिक तौर पर भिक्षुणी–संघ का निरन्तर पतन होता गया। बौद्धों में निपुण महिलाओं के पहले के उदाहरण देखते हुए, यह आशा की जा सकती थी कि बढ़ते हुई उभयकेंद्रित व पितृसत्तात्मक प्रतिबन्धों के बावजूद विहारों में*

---

[51]इस कहानी के महासांघिक–लोकोत्तरवादी वृत्तान्त में उनके नेतृत्व व विद्रोहीपन पर जोर दिया गया है। जब आरम्भ में बुद्ध द्वारा उनकी माँग अस्वीकार कर दी जाती है तब वे अपनी सखियों के पास आती हैं और सुझाव देती हैं कि वे सब केष कटाएँ, काषायवस्त्र पहनें तथा बुद्ध का अनुसरण करें। उसके बाद वे कहती हैं– “यदि बुद्ध ने आज्ञा दी तो हम धर्म–मार्ग पर चलेंगी और यदि न दी तब भी हम यही करेंगी।” *(*देखें, Edith Nolor, *(*tr*)*, *Regles de Discipline des Nonnes Bouddhistes: Les Bhikṣuṇīvinaya de L'Ecole Mahāsaṃghika-Lokottaravādin* Paris: Collège de France, 1991*)*. अब बड़ी संख्या में विद्वान यह मानने में कठिनाई अनुभव करने लगे हैं कि बुद्ध, जिनकी षिक्षाएँ विष्वजनीनता व लैंगिक समता पर आधारित थीं, ने इस प्रकार के नियम बनाए होंगे। ये नियम व उनसे सम्बन्धित किंवदन्तियाँ बाद के क्षेपक हैं।

भिक्षुणियों ने अपना रचनात्मक धार्मिक जीवन क़ायम रखा होगा। हो सकता है कि बुद्ध की मृत्यु के बाद की कुछ शताब्दियों तक ऐसा रहा हो लेकिन बौद्ध धर्म के बढ़ते हुए ब्राह्मणीकरण व तापसीकरण के सीधे अनुपात में भिक्षुणी–संघ में जीवन हाशिये की ओर धकेला जा रहा प्रतीत होता है जिसकी अन्त में, प्रथा के औपचारिक वृत्तान्तों में कोई भी भूमिका समाप्त हो गई। तीसरी शताब्दी तक, भारत में भिक्षुणी–संघ औपचारिक अभिलेखों में से सही में ही लुप्त हो गया लगता है। उदाहरणतया, चीनी धर्मयात्रियों के विवरण से पता चलता है कि भिक्षुणी–विहार सातवीं शताब्दी के बाद तक मौजूद थे लेकिन अपने पेशे में उनकी उपलब्धियों या बौद्ध समुदाय को किए *किसी योगदान का कहीं कोई प्रमाण नहीं मिलता। भिक्षु–संघ के खुले समर्थन के बिना यह सब सम्भव नहीं हो सकता था क्योंकि भिक्षुणियों की समता बनाए रखने में लाभ की अपेक्षा उनकी हानि थी। सैद्धान्तिक स्तर पर लैंगिक समता की बात मानने के बावजूद, संस्थागत बौद्ध धर्म समाज में लैंगिक भूमिकाओं से सम्बंधित प्रचलित* रुखों *को या तो चुनौती नहीं दे पाया या फिर ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। प्राचीन भारत में प्रारम्भिक सफलता के बाद भिक्षुणी–संघ का पतन होना आरम्भ हो गया क्योंकि उपासक भिक्षुणियों की अपेक्षा भिक्षुओं का समर्थन ज़्यादा खुशी से करते थे।*[52] *सब से अधिक अचम्भित करनेवाली बात तो यह है कि भले ही हाशिये पर, लेकिन लम्बे समय तक भिक्षुणी–संघ विद्यमान रहने में सफल रहा।*

तापसिक नारीद्वेष, ***जिसे पालि*** *त्रिपिटक* ***के अन्तिम तह*** *में पाया जाता है, स्त्री के प्रति अधिकतम शत्रुतापूर्ण व*

[52] Rita M. Gross, *Feminism and Religion: An Introduction*, Boston: Beacon Press, 1996: 83.

नकारात्मक था।[53] ***इस प्रकार के*** रुख ***ने सुझाया कि एक महिला न तो निर्वाण,*** अर्हत्त्व, ***बोधिसत्त्वत्व या बोधि जैसे उच्चतम धार्मिक आदर्श प्राप्त कर सकती थी और न ही वह शक्र, मार या ब्रह्मा बन सकती थी।***[54] ***उसे मानव–जाति के पतन तथा आध्यात्मिक–प्राणी (***spiritual being***) की मृत्यु के*** लिए ***सीधा ज़िम्मेदार ठहराया गया।***[55] ***अब स्त्री–जाति को नीच, असभ्य, मायावी, सनकी, धूर्त,*** अविश्वसनीय, भ्रष्ट, विध्वंसक, दुर्ग्राह्य, ईर्ष्यालु, मूर्ख, चलचित्त, नासमझ, लालची, अपूर्ण, कामुक, सांसारिक, रहस्यमय, ऐन्द्रजालिक, लम्पट, विधर्मी, अपराधी, कायर, विश्वासघाती, नमकहराम, चरित्रहीन, गिरी हुई, बेलगाम, दुष्ट, कपटी, आलोच्य, बुद्धिहीन व फ़ुजूलख़र्चीली के रूप में देखा जाने लगा।[56] ***पाँच तरह से उसकी***

---

[53]वह इस प्रकार की पृष्ठभूमि थी जिसके तहत महिलाओं की दीक्षा की कठोरतम आलोचना व निन्दा की गई। उनकी दीक्षा को बौद्ध धर्म की षायद सब से बड़ी त्रासदी के रूप में देखा जाने लगा और धान की फसल को लगी फफूँदी/ सफेदा (सेतट्ठिक) जैसी संवृतियों से उसकी तुलना की जाने लगी।

[54]Bu.I.59; SnA.I.48f; A.I.28; M.II.65-66. एक बोधिसत्त्व से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपनी जीवन–संगिनी को छोड़ दे *(*J.VI.552*)*। यह भी एक दिलचस्प बात है कि जातकों में दिये गए 547 बोधिसत्त्वों में से एक भी स्त्री–जाति का नहीं है।

[55]असल में, अगxज सुत्तंत की यही विषय–वस्तु है।

[56]GS.I.93, IV.150; KS.I.146; A.II.61; J.I.111, 134, 285, 289, II.474, 478, 527; IV.24-25; V.36, 435; VI.17, 339. महिलाओं के लिए प्रयोग की गई महापरिनिर्वाणोत्तर उक्तियाँ देखने योग्य है– 1."मौका मिलने पर सभी महिलाएँ उल्टा करेंगी।" *(*J.V.435*).* 2."नदी, सड़क, या जल–प्याऊ, सभा–कक्ष या धर्मषाला/ सभी के लिए निःषुल्क हैं महिलाएँ, इन्हें पापों से कोई बन्धन नहीं रोक सकते।"*(*J.V.446*).* 3."डांट खाना ही महिलाओं की आदत है।"*(*GS.IV.150*).* 4. वे तो "समुद्री पिषाचों की आफ़त

तुलना साँप से की गई– गुस्सैल, चिड़चिड़ी, इतनी विषैली कि मार डाले, द्विशाखित ज़ुबानवाली तथा मित्रघातक।[57] *जातक* ***इस प्रकार के विषाक्त*** रुख ***का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।***[58] ***अब ऐसा***

(सुसुकाभ्यं) हैं।" *(*A.I.126*).* 5."महिला–जाति के कार्यकलाप रहस्यनुमा होते हैं न कि निष्कपट।"*(*A.I.282*).* 6."समुद्र के बीच सिम्बल झील के पास" रख लिए जाने के बाद भी महिलाओं को अपनी इज़्ज़त लुटाने से नहीं रोका जा सकता। *(J*.II.90*).* 7."वस्तुतः महिला दुष्ट व अकृतज्ञ होती है। अतीत में असुरों ने महिलाओं को निगलकर उन्हें अपने पेट में छुपा कर रखा, फिर भी वे उन्हें अपने मर्द के प्रति कृतज्ञ नहीं रख सके।" *(J*.II.527*).* 8. महिलाओं की प्रकृति को समझना बहुत मुष्किल है *(J*.V.446*)* क्योंकि वे "कमीनी" हैं और "इनकी बेषर्मी की कोई सीमा नहीं है।"*(J*.V.448*).* चुल्ल–पदुम जातक *(J*.I.115-121*)* में बोधिसत्त्व बताता है कि किस प्रकार उसने अपनी प्यासी पत्नी की प्यास बुझाने के लिए उसे अपने घुटने में से खून निकाल कर दिया और इसके बदले में उसने उसकी हत्या करने की कोषिष की और एक अपराधी प्रवृत्ति के व्यक्ति के साथ जाकर रहने लगी। एक दूसरी जगह पर बोधिसत्त्व कहते हैं– "भिक्षुओं! जब मैं जानवर के रूप में जीवन व्यतीत कर रहा था, तब भी मैं नारी–जाति की अकृतज्ञता, छल, दुष्टता, और लम्पटता के बारे में अच्छी तरह से जानता था, और उस समय उनके नीचे रहने के बजाए मैंने उन्हें अपने नियंत्रण में रखा। *(J*.V.419*).* एक और जातक में बोधिसत्त्व अपने पिता को कहते हैं– "यदि औरतें इस घर में आईं तो मन की षन्ति न मुझे मिलेगी और न ही आपको।"*(J*.IV.43*).*

[57]A.II.260-61. इसी सुत्त में एक और स्थान पर एक महिला व सांप में निम्नलिखित ***पाँच हानिकारक समानताएँ बताई गई हैं– व्यभिचारी, दुर्गन्धयुक्त, कायर, भीरु तथा मित्रघातक।***

[58]इस प्रकार का रुख बोधिसत्त्व से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं में भी प्रतिबिम्बित होता है, जिनमें वह गर्व अनुभव करता है क्योंकि वह नारीद्वेषी (अनित्थिगंध) है *(J*.IV.48*)*, अपनी बात सिद्ध करने के लिए एक राजा की दुल्हन को पथभ्रष्ट करता है *(J*.VI.235-236*)*, एक दानी राजा के रूप में वह एक व्यक्ति को अपनी पत्नी को एक सप्ताह के लिए मौजमस्ती हेतु सौंप देता है *(J*.II.419*)*, एक नारी से अनियमित संभोग करने के बाद एक राजा

अनुभव किया जाने लगा था कि औरत के साथ सम्बन्ध अपवित्र तथा घातक था क्योंकि वह उन पवित्र हस्तियों में भी दोष व अपवित्रता पैदा कर सकती है "जिन्होंने अपने पापों को समाधिमग्नता से रोक रखा था।"[59] बारम्बार यह बताया गया है कि महिलाओं की कामवासना जैविक तौर पर उच्छृंखल हैं।[60] इस प्रकार की मानसिकता के फलस्वरूप, यह बताया गया कि नारी का पुरुष द्वारा दमन किया जाना चाहिए, उसे नियंत्रण में रखा जाना चाहिए, तथा उस पर विजय पानी चाहिए।

के रूप में वह उसे कहता है कि वह उसे तभी मिलने आए यदि उसे लड़का पैदा हो *(*J.I.28*)*, इत्यादि। जातकों के बोधिसत्त्वों के निम्नलिखित कथन भी अपनी बात स्वयं करते हैं– 1."वह चोटीवाले डकैतों जैसी, विषैले पेय जैसी, उन व्यापारियों जैसी जो अपनी प्रषंसा स्वयं करते हैं, हिरण के सींगों की तरह टेढ़ी, साँपों की तरह द्विषाखित–जुबान वाली, ढ़ँके हुए गड्ढे जैसी, नर्क की तरह अतृप्त, एक राक्षसी की तरह असन्तुष्ट, यम की तरह वृकोदर, एक ज्वाला की तरह सर्वभक्षक, एक नदी की तरह सामने का सबकुछ बहा ले जानेवाली, वायु की तरह जिधर झुकाव हुआ उधर ही जानेवाली, मेरु पर्वत की तरह अविवेकी, विषैले वृक्ष की तरह प्रत्येक वर्ष फलनेवाली है।" *(*J.V.425*)*. 2."एक पत्नी युवा हो, अच्छी और सुन्दर हो/ उसकी अनेक सहेलियाँ हों तथा बच्चों का प्यार साझा करती हो/ अपने भेद उसके सुपुर्द भी मत करो/ या फिर उसके विष्वासघात से बचकर रहो।" *(*J.V.80*)*. 3."हाथ में तलवार लिये हुए व्यक्ति से बात करो/ बेताल से जाकर प्रष्न करो, पास जाकर बैठो/ उस जहरीले साँप के, जिसका डंक मरणान्तक हो/ लेकिन कभी भी अकेली नारी से एकान्त में बात मत करो।" *(*A.II.260*)*.

[59]जातक ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं जिनमें औरतें संन्यासियों को उनके लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर देती हैं। देखें, उदाहरणतया, J.I.27, IV.468, V.157.

[60]महापरिनिर्वाणोत्तर बौद्ध धर्म में पुनरावर्तक विषय यह है कि औरतें भ्रष्ट होती हैं जिनकी जीवनभर "संभोग, श्रृंगार, तथा बच्चे–जनने" से तृप्ति नहीं होती। *(*GS.I.77; J.II.342*)*.

नारी–लैंगिकता को संस्कृति, समाज तथा धर्म के लिए *एक खतरा समझा जाने लगा और इस तर्क का प्रयोग महिलाओं को हाशिये के जीवन में ढकेलने के* लिए *प्रयोग किया जाने लगा।*[61]

इस प्रकार की तीव्र नारीद्वेषक भावना का उद्भव एक विशेष प्रकार की समस्याओं को लेकर हुआ। प्राचीन भारतीय संस्कृति के सृष्टिशास्त्र का ध्यान इस तथ्य पर केंद्रित था कि विश्व आकाररहित, अलैंगिक प्राणियों के पवित्र क्षेत्र से विकसित हुआ है। आकार व लैंगिक भिन्नता को अस्तित्व की निम्न श्रेणी की अभिव्यक्ति माना गया जो संसार से मोह के द्वारा जुड़ा हुआ था और जो भोजन ग्रहण करने व मैथुन से उत्पन्न हुआ था। इन ग्रंथों में यह अन्तर्निहित था कि चूँकि कामुकता के कारण पतन हुआ था, कामवासना से परहेज़ उन कड़ियों को कमजोर कर देगा जो मानवता को निम्न श्रेणी के भौतिक संसार से बाँधता है और इस प्रकार बोधि के जिज्ञासुओं को आदर्श की उस ज्योतिर्मय अवस्था की ओर आरोहण करने के योग्य बनाया जिसे उनके पूर्वजों ने खो दिया था। ऐसी विश्वदृष्टि के होते हुए, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विशुद्धता को नारी गर्भाधान से और उत्कृष्ट शुद्धता को पुंजातीय ब्रह्मचर्य से जोड़ दिया गया। बौद्ध साहित्य में इस प्रकार की भावनाओं को पुंजातीय धार्मिक प्रथा पर परिचर्चा में प्रायः व्यक्त किया गया है, विशेषकर उन ग्रंथों में जो आध्यात्मिक आदर्श को मुख्यतः

---

[61]इसी के साथ, नारी की काया के रहस्य व उसकी षक्तियों को विघटनकारी ब्रह्मण्डीय षक्तियों के साथ जोड़ा जाने लगा। इस प्रकार की विचारधारा आम्रपालि जैसी गणिकाओं पर लागू नहीं होती थी। एक गणिका की कामुकता से डर तो लगता था लेकिन उसकी कामना भी की जाती थी। वह षक्तिषाली थी क्योंकि कोई एक पुरुष उस पर अधिकार व्यक्त नहीं कर सकता था। उसकी क़द्र की जाती थी क्योंकि वह सबको बिना किसी भेदभाव के अपनी सेवा प्रदान करती थी।

तापसिक शुद्धता के रूप में देखते हैं। इससे संकेत मिलता है कि सृष्टिशास्त्रीय मान्यताओं के रिक्थ की अपेक्षा तापसिक ब्रह्मचर्य की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ ऐसे रुख *को समझने में अधिक केंद्रित हैं। इसमें नारी–जाति, विशेषकर पुंजातीय ब्रह्मचर्य को भंग करने की उसकी शक्ति, का भय देखने को मिलता है।*

तापसिक आदर्शोंवाले धर्म में गृहस्थ जीवन के बहिष्कार का मतलब मुख्यतया महिला का बहिष्कार था और महापरिनिर्वाणोत्तर काल के बौद्ध धर्म में महिला के बहिष्कार को एक पुण्यफल के रूप में देखा जाने लगा। कहानियाँ, मूर्तिकला एवं आदर्श बारंबार नारीद्वेषक *विचारों के साधन बने।*[62] *गृहस्थों, उल्लंघनकर्ताओं तथा नवदीक्षितों की तरह भिक्षुणियों को औपचारिक कार्रवाई के दौरान दिये* गए *बयानों का विरोध करने या भिक्षुओं के व्यवहार पर टिप्पणी करने का अधिकार प्राप्त नहीं था। असल में, भिक्षुणियाँ पूर्णतया भिक्षुओं के अधीन कर दी गई थीं।*[63] *महिलाओं का उनके ठेठ ज़नाना लक्षणों* (इत्थिनिमित्त) *तथा मनोवृत्ति* (इत्थिकुत्त) *के* लिए *उपहास उड़ाया*

---

[62]नारीत्व को निरन्तर “मार–जाल” *(*snare of Māra*)* के रूप में देखा गया। *(*A.III.68*).*

[63]साफ षब्दों में यह आदेष दिया गया था कि “महिलाओं को नमस्कार नहीं करना चाहिए, उनके अभिवादन में उठना नहीं चाहिए तथा उनके लिए कर्त्तव्य का पालन नहीं करना चाहिए।” *(*BD.V.227, 358*).* “सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई भिक्षुणी को भी उसी दिन के उपसम्पदा पाए भिक्षु के लिए अभिवादन प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना, समीची–कर्म करना चाहिए। यह भी धर्म सत्कारपूर्वक गौरवपूर्वक मानकर, पूजकर जीवनभर अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।” *(*Vin.V.52*).* भिक्षु भिक्षुणियों को फटकार सकते थे लेकिन भिक्षुणियाँ भिक्षुओं को फटकार नहीं सकती थीं। *(*A.IV.277-78*).*

जाता था।[64] *यह कोई हैरानी वाली बात नहीं है कि महापरिनिर्वाणोत्तर बौद्ध धर्म में महिलाओं को न्यायाल्य में बैठने के लायक, वाणिज्य करने के क्षम, चीज़ों का सही अर्थ समझने के योग्य, गृहस्थ के कार्यों को समझदारी से सँभालने, तथा सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं के नेतृत्व के योग्य तथा वांछनीय नहीं माना जाता था।*[65] *इस प्रकार के प्रचण्ड,*

---

[64] A.IV.57; Dhs.633, 713, 836; J.I.296, 433, II.127, 329, IV.219, 472; DhA.IV.197.अब किसी भी महिला द्वारा उसके लिए निर्धारित किए गए नियमों से हटकर कार्य करने को "अस्त्रियोचित व्यवहार" (अनित्थि) माना जाने लगा। *(*J.I.126*).* महापरिनिर्वाणोत्तर काल में महिलाओं से मुख्यतौर पर यह अपेक्षा की जाती थी कि वे स्वयं को इस प्रकार से षिक्षित करें कि "जिस भी पति को... माँ–बाप... (उन्हें सौंपें)... उसके लिए (वे) सुबह जल्दी उठेंगी, सबसे बाद में सोएंगी, खुष होकर कार्य करेंगी, सभी को प्यार से तथा मधुर वाणी में पुकारेंगी।"*(*A.II.37, IV.265*).*

[65] *1.वे "न्यायालय में बैठने, वाणिज्य करने या चीज़ों का सही अर्थ समझने के योग्य नहीं हैं" क्योंकि वे "क्रोधी... ईर्ष्यालु... लालची. .. (तथा)... दिमाग से कमजोर होती हैं।"* *(*A.I.82-83*). 2.यह निर्धारित कर दिया गया था कि भिक्षुणियों को प्रवारणा से दूर रहना चाहिए (*Mv.IV.2-14*) तथा भिक्षुओं के प्रातिमोक्ष की आवृत्ति के समय सीमा के बाहर रहना चाहिए (इसमें भिक्षुणियों के* लिए *नियम सम्मिलित होने के बावजूद भी) (*Mv.I.36.1-2*). 3.यह निर्धारित कर दिया गया था कि "एक औपचारिक कार्य... जिसमें चार व्यक्तियों की उपस्थिति आवश्यक हो, यदि उसे ऐसी सभा में किया गया हो जिसमें चौथा सदस्य एक भिक्षुणी हो तो वह सही कार्य नहीं है और उसे करना नहीं चाहिए।" (*SBE.XVII.269*). इस प्रकार, उन्हें भिक्षुओं की उपसम्पदा या अनुशासनिक कार्यवाहियों में संघ के औपचारिक कार्यों में कोरम पूरा करने में नहीं गिना जाता था। वे संघभेदियों का साथ देने के बावजूद भी संघ का विभाजन नहीं कर सकती थीं। (*Mv.VI.5.1*). यह चेतावनी दी जाने लगी कि वह जगह "बदनाम... (हो जाती है)... जहाँ औरतें राज करती हैं, और वे आदमी बदनाम हो*

अव्यवहारिक तथा दहलाने वाले तर्क के द्वारा महिलाओं को दुःखभरी दशा तक गिरा दिया गया और उनका जीवन सही में एक हाशिये पर आ गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि महापरिनिर्वाणोत्तर बौद्ध संघ में सामान्यतया वही महिलाएँ प्रवेश कर पाती थीं जो या तो सम्राट् अशोक की पुत्री संघमित्रा की भाँति समाज की नैतिकता के आम नियमों से ऊपर थीं या फिर वे औरतें जिनका आगे पीछे कोई नहीं था और जो समाज की नैतिकता की सीमा से बाहर निकल चुकी थीं। लेकिन दशा या परिस्थितियाँ जैसी भी रही हों, महिलाओं को एक अच्छा अवसर मिला। एक उभयकेंद्रित–पितृसत्तात्मक समाज में यह बड़ी नाज़ुक स्थिति रही होगी जिसमें एक ओर तो मर्यादा को लेकर भिक्षुओं और भिक्षुणियों को एक–दूसरे से पर्याप्त अन्तराल बना कर रखना पड़ता था और दूसरी ओर संघ को महिलाओं के एक ऐसे स्वायत्त गुट की सामाजिक अस्वीकृति (वास्तव में अकल्पनीयता) से निपटना पड़ता था जो किसी पुंजातीय षक्ति के सीधे नियंत्रण में नहीं था। भिक्षुओं ***के साथ औपचारिक रूप से सम्बद्ध होने के कारण*** भिक्षुणिय***ाँ बिना तात्कालिक हानि उठाए गृहस्थ जीवन छोड़ने का लाभ उठा सकती थीं।*** महिलाओं के ***प्रति गलत*** रुख ***के*** लिए, ***जिसके कारण ऐसे संरक्षण की आवश्यकता पड़ी, समाज का खण्डन किया जाना तो ठीक लगता है लेकिन ऐसी नीति अपनाने के*** लिए ***संघ***

जाते हैं जो खुद औरतों के राज को स्वीकार कर लेते हैं।" (J.I.43).
4.जातकों ***में भविष्यवाणी की गई है कि तब बुरे दिन आ जाएंगे जब "आदमी सबकुछ अपनी पत्नियों को सुपुर्द कर देंगे" (J.I.342) क्योंकि वे "बिल्लियों की तरह उसे बर्बाद कर देती हैं जो उनके वश में हो जाता है।" (J.V.152).***

की आलोचना ठीक नहीं है।[66] *अब अपने भविष्य को अपने ही हाथों में लेकर वे अपनी दशा में सुधार कर सकती थीं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि महिला के सबसे बड़े शत्रु परिवार, विवाह और प्रसूति थे (और हैं)– जहाँ उसका मर्दों द्वारा एक बच्चे पैदा करने व पालने की मशीन के तौर पर शोषण किया जाता था। यह तथ्य कोई न्यून उपलब्धि नहीं है कि बौद्ध धर्म ने महिलाओं को इन सब संस्थाओं से न केवल मुक्ति पाने का बल्कि उन्हें खुद को संयोजित करने का मौका भी दिया। इस प्रकार के ही वातावरण में* थेरीगाथा *जैसे एक अद्वितीय ग्रंथ की रचना की गई, जिसका नाम हर बार तब लेना चाहिए जब भी बौद्ध धर्म में महिलाओं की बात की जाए। इससे आँकड़े संतुलित हो जाएँगे।*[67]

---

[66]Ian Astley, (A Book review of) Rita M. Gross, *Buddhism After Patriarchy: A Feminine History, Analysis, and Reconstruction of Buddhism*, Albany: State University of New York Press, 1992, in *Studies in Central and East Asian Religions*, vol. 5/6, Copenhagen: Journal of the Seminar for Buddhist Studies, 1992-3: 208.

[67]*लेकिन रीटा ग्रॉस का कहना है कि हालाँकि* थेरीगाथा *में दी गई कहानियाँ काफी लाभदायक हैं, परन्तु उनकी उपयोगिता सीमित है। ये महिलाएँ नायिकाएं हैं, लेकिन ये* उभयकेंद्रित व पितृसत्तात्मक *अतीत में मात्र स्मृतिचिह्न हैं। हमें अपनी नायिकाओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने, उनकी तथा उनकी आदर्श भूमिका की प्रशंसा करने की आवश्यकता तो है, लेकिन दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि उन पर आवश्यकता से अधिक जोर न दिया जाए। (*Rita M. Gross, *Buddhism After Patriarchy, Op. Cit.* 118*).*

5

सामाजिक विचार

मानवीय अनुभव द्वारा यह दर्षाया जा चुका है कि पूर्णतः समतावादी समाज, जिसमें कोई व्यक्ति दूसरों से अधिक प्रभाव, प्रतिष्ठा या धन नहीं रखता हो, बिल्कुल असंभव है। श्रेणीबद्धता अपरिहार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि मानव–जाति के सामने मुख्य प्रष्न उचित श्रेणीबद्धता *(proper hierarchy)* की स्थापना का रहा है। स्वतंत्रता और समता, जो मानवीय सभ्यता के आवश्यक अंग हैं, दो वर्गों, यथा औपचारिक और वास्तविक *(formal* and *effective)*, में विभाजित हो सकती हैं। पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों में औपचारिक स्वतंत्रता और समता लगभग सभी नागरिकों को उपलब्ध हैं। लेकिन उनका कानून केवल अमीरों के स्वार्थ के लिए कार्य करता है तथा वास्तव में, गरीब लोग अनेक प्रकार की विषमताओं को भोग रहे हैं। इस प्रकार वास्तविक स्वतंत्रता और समता केवल कुछ विशेष लोगों को ही उपलब्ध हैं।[1] यही कारण है कि आज भी अनेक षोषित लोगों को

---

[1]इस संदर्भ में, संयुक्त राज्य अमेरिका, जिसे स्वतंत्रता और समानता का अग्रणी माना जाता है, का उदाहरण देखने योग्य है। इस देष पर विभिन्न प्रमाणों के आधार पर किए गए षोधकार्य से पता चलता है कि प्रत्याषित–आयु एवं स्वास्थ्य–दषा का श्रमिकवर्ग की जीवन–निर्वाह तथा पूँजीवाद की भौतिक दषाओं से सीधे रूप से सम्बन्ध है। ***(उदाहरण के लिए देखें***, Vincente Navarro, "Social Class, Political Power and the State and Their Implications for Medicine," *Social Science and Medicine*, 10, 1976: 437-57*)*. जैसा कि सी॰ डब्ल्यू॰ मिल्ल्ज़ *(*C.W. Mills*)* ने अपने ग्रन्थ *The Power Elite (*New York: Oxford University Press, 1956: 39*)* में कहा है कि "षिखर पर चढ़ना अत्यन्त कठिन होता है... वहाँ पर जन्म लेना अधिक आसान व अधिक सुलभ होता है।*) (*"It is very difficult to climb to the top… it is much easier and much safer to be born there."*)* वैस्टर्गार्ड तथा कई दूसरे विद्वान यह दिखा चुके हैं कि प्रत्येक

मार्क्सवाद अपने शोषण–मुक्ति और भेदभाव–समाप्ति के दर्षन से प्रेरित करता है। वास्तविक स्वतन्त्रता और समता के निर्माण के लिए सकारात्मक कदम वर्ग–व्यवस्था की समाप्ति के द्वारा ही उठ सकता है। चूँकि बौद्ध धर्म जाति–आधारित विशेषाधिकार में विश्वास नहीं करता, इसलिए कुछ विद्वान इसकी तुलना मार्क्सवाद के साथ भी करते हैं।

किसी सामाजिक मुद्दे का विश्लेषण करते समय ध्यान में यह तथ्य रखना आवश्यक है कि प्राचीन भारत का इतिहास उच्च जाति के लोगों का इतिहास है। लगभग किसी भी स्रोत में समाज की विभिन्न निम्न जातियों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। बुद्धकाल के आरम्भ होने तक भारतीय समाज में जाति–व्यवस्था वृहत् विषमता के साथ सुस्थापित हो चुकी थी। यह वृत्तिमूलक और वंषानुगत *(*functional and hereditary*)* दोनों ही रूपों में दृढ़ हो चुकी थी। वण्ण शब्द, जिसका अर्थ सामाजिक वर्ग, क्रम या जाति होता है, का उपयोग पालि साहित्य में सामान्यतः न सिर्फ प्राणियों के विभाजक–चिह्न के रूप में हुआ है, बल्कि यह जाति–विभाजन के चिह्न को भी दर्शाता है। सामान्यतः गौतम बुद्ध के समय वंश–परम्परा (गोत्त) का प्रयोग एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक मापदण्ड के रूप में किया जाता था और पालि साहित्य में उद्धृत, "क्या वंशावली है?" या "अमुक वंशावली से मेरा सम्बन्ध है," जैसे कथन इसी संदर्भ में हैं।[2] इसी प्रकार पालि साहित्य में 'कुल' की भावना सुस्पष्टता से

सामाजिक वर्ग के अन्दर विभिन्न समुदायों एवं स्तरों में कुछ गतिषीलता हुई है, लेकिन सामाजिक वर्गों के अन्दर कोई वास्तविक गतिषीलता नहीं आई है। *(*J.H. Westergaard, "Sociology: The Myth of Classlessness" in R. Blackburn *(*ed*)*, *Ideology in Social Science*, New York: Fontana, 1972: 119-163*)*. ***और आगे देखें***, Linda McQuaig, *The Wealthy Banker's Wife*, Penguin Books, 1993.

[2] *गोत्तवाद* *(*D.I.99*)*; *कथंगोत्त* *(*D.I.92*)*; *एवंगोत्त* *(*M.I.420, II.20, 33*)*.

प्रदर्षित है[3] और वहाँ प्रायः ऐसे लोगों का वर्णन आता है जो उच्चजातीय, उच्चवर्गीय, उच्चपरिवारीय तथा उच्चवंषीय थे।[4] *'अय'* *(अय्य)* शब्द का खुले रूप से आर्य (अर्थात् कुलीन) वंषों के रिवाज और विचार के रूप में प्रयोग किया गया है[5] और अपने उच्चजातीय एवं उच्चकुलीन जन्म पर घमण्ड व्यक्त करनेवाले व्यक्तियों का पाया जाना कोई आष्चर्य की ***बात नहीं है।***[6] ***इस के साथ–साथ तथाकथित*** *निम्नजाति* ***व*** *निम्नप्रजाति* ***के लोग भी थे, जो अशुद्ध रक्त या निम्न जन्म के माने जाते थे।***[7] ऐसे लोगों को हेय, नीच, तिरस्कृत, अशिक्षित, साधारण, असभ्य, अनार्य और निर्लज्ज के रूप में देखा जाता था।[8] बहुत–से ऐसे भाग्यहीन लोगों को जातीय प्रचलन

---

[3]राजकुल *(*J.I.290; III.277; VI.368*)*, खत्तियकुल *(*Vin.II.161*)*, ब्राह्मणकुल (A.V.249; J.IV.411*)*, वाणिजकुल *(*J.III.82*)*, कस्सककुल *(*J.II.109*)*, पुराणसेट्ठिकुल *(*J.VI.364*)*, अग्गकुलिक *(*Pv.III.5.5*)*, कुलधीता *(*Vin.II.10*)*, सदिसकुल *(*PvA.82*)*, कुलवंस *(*M.II.181; A.III.43; IV.61; DA.I.256*)* इत्यादि।

[4]जातिसंपन्न *(*A.III.152*)*; आजानिय *(*J.I.181*)*; जातिमंत *(*Sn.420*)*; सुजातिमंत *(*J.VI.356*)*; कुलरूपसंपन्न *(*PvA.3, 280*)*; अरियाय जातिया जातो *(*M.II.103*)*; उच्चकुलीनता (A.III.48*)*; उच्चाकुलीनता *(*M.III.37; VvA.32; *(*Pv.III.1.16*)*; कोलीनिया / कोलेय्यक *(*J.II.348*)*.

[5] ***उदाहरण के लिए***, *अय्यपुत्त* अर्थात ***आर्यपुत्र*** *(*J.I.62, III.167, VI.146.*)*और *अर्यपुग्गल* अर्थात ***आर्यपुरुष*** *(*Vin.V.117; Ps.I.167; ThA.206*)*. ***इसी प्रकार*** *अर्यधम्म* *(*S.IV.250*)*; *अर्यसंघ* *(*PvA.1*)*; *अर्यमग्गो* *(*S.V.421*)*; ***तथा*** *अरियसच्चानि* *(*Vin.I.10; Sn.229, 267; Dh.190; D.I.189; II.90; III.277; M.I.62; III.248; S.V.435 इत्यादि*)* जैसे षब्दों का प्रयोग भी इसी संदर्भ में किया गया है।

[6]जातिथद्ध *(*Sn.104*)*.

[7]अनाजानिय *(*M.I.367*)*; आजातिमं *(*J.VI.356*)*; अजच्च *(*J.III.17, VI.100*)*; इतरजच्च *(*M.II.47*)*; हीनजच्च *(*J.I.342*)*; निहीनजच्च *(*J.V.257*)*; जातिनिहीन *(*PvA.198*)*; निहीनजातिक *(*PvA.175*)*.

[8]अनरिय *(*Vin.I.10; D.II.87; III.232; Sn.664, 782; A.I.8*)*; अनारिय *(*Sn.815*)*; अनरियधम्म *(*Pug.13*)*; अनरियरूप *(*J.V.48, 87;

के घेरे से बाहर रखा गया था, जिन्हें जाति–विहीन या पर–जाति के रूप में लिया जाता था।[9] पालि भाषा में ग्रामवासियों एवं ग्राम से संबंधित संस्कृति की 'ग्रामीय' (गँवारू) के रूप में स्पष्ट षब्दों में अवहेलना की गई है।[10] इसकी तुलना में 'नागरिक' शब्द सभ्य और भद्र लोगों की ओर संकेत करता है।[11] सामाजिक स्तर के श्रेणीकरण के अतिरिक्त आर्थिक स्तर पर भी विभाजन देखने को मिला है। अतः पालि साहित्य में दोनों दरिद्र (दलिद्द/ दळिद)[12] तथा धनी और प्रभावशाली व्यक्तियों के उल्लेख हैं।[13] मनुष्यों को दासों के रूप में खरीदा और बेचा जाता था।[14] अवैतनिक श्रमिकों तथा कृषिदासों का उल्लेख भी पालि साहित्य में मिलता है।[15] दूसरे षब्दों में, बुद्धकालीन भारतीय समाज सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से ग्रसित था।

DhA.IV.3); नीचकुल (Sn.411, 462; J.I.106). 'दासीपुत्त' नामक षब्द का प्रयोग प्राय घृणा व्यक्त करने के लिए किया जाता था (घरदासिया व पुत्तो D.I.93; DA.I.257). *PED* में भी देखें, s.v. *dāsīputta*.

[9]वेवण्णिय (A.V.87); वैवर्णिक (Divy.424).

[10]गामकूट (खुषामदी टट्टू– S.II.258); गामधम्म (दुष्ट आचरण– D.I.4); गामवासिनंधम्म (दुष्ट आचरण– DA.I.72); गामदारका (सड़कछाप छोकरे– J.II.78, 176, III.275).

[11]DA.I.282. निकायों में सम्मिलित बुद्ध के अधिकतर प्रवचन श्रावस्ती, राजगृह तथा कौषाम्बी जैसे बड़े नगरों में दिए गए थे। जातकों में मनुष्य के रूप में पैदा हुए 315 बोधिसत्त्वों में से 223 अर्थात् 84.47% न केवल नगरीय केंद्रों में पैदा हुए थे बल्कि वे राजाओं, मंत्रियों या साहूकारों के परिवारों से भी सम्बन्धित थे। (अधिक जानकारी के लिए देखें, K.T.S. Sarao, *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, Delhi: Eastern Book Linkers: 1989: Appendix: 4).

[12]Vin.II.159; S.I.96; V.100, 384, 404; M.II.73; A.II.57, 203; III.351; IV.219; V.43; DA.I.298.

[13]अड्ढक (J.IV.495; Pv.8.2); महाविभव (PvA.107).

[14]D.I.5; DA.I.78; J.I.200, 223, III.343, 347; Pug.56; PvA.112.

[15]दासकम्मकार (Vin.I.240; A.I.240; D.III.189; DhA.IV.1).

ब्राह्मणों ने, जो स्वयं को उच्च जातीय मानते थे, समाज की सभी सुविधाओं के साथ अपने प्रभुत्व को अहस्तांतरणीय जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। बुद्धकाल के ठीक पहले यज्ञीय पूजा–पद्धति के द्वारा ब्राह्मण बहुत शक्तिशाली बन गए थे और समाज में अन्य वर्णों की अपेक्षा उनकी प्रतिष्ठा अत्यधिक ऊँची हो गयी थी। उन्हें मनुष्य के रूप में देव माना जाने लगा था और यहाँ तक कि राजा भी उनकी सेवा के लिए उनके प्रति अनगृहीत होते थे। वे किसी भी प्रकार के भय और तत्कालीन विचारधाराओं से नहीं डरते थे और न ही उन्हें किसी जघन्य अपराध के दण्ड का भय था।[16] यद्यपि उन्होंने यज्ञ की प्रभावोत्पादकता से शक्ति प्राप्त की थी, लेकिन बुद्ध के काल में सभी ब्राह्मण अनिवार्यतः यज्ञीय पुजारी नहीं थे क्योंकि उन्हें विभिन्न प्रकार के व्यवसाय अपनाते हुए दिखाया गया है। लेकिन ब्राह्मण कहलाने की आधारभूत योग्यता जन्म ही प्रतीत होती है। सोणदण्ड सुत्त में ब्राह्मण बनने के उन सभी गुणों की सूची दी गयी है जो उस समय आवश्यक माने जाते थे।[17] इस प्रकार "एक ब्राह्मण अपने माता–पिता दोनों के तरफ से बिना भर्त्सना और लांछन के पिछली सात पीढ़ियों से अच्छे कुल में पैदा हुआ होता है, वह धर्म ग्रन्थों का उपदेषक होता है, गुह्य पद्य उसे कण्ठस्थ होते हैं... वह सुन्दर, रमणीय, विष्वसनीय, मनोहर, प्रेरणादायी, रूप–रंग में प्रतिभाषाली, उत्तम व्यक्तित्व और देखने में प्रतापी, सद्गुणी होता है।" उच्च कोटि के ब्राह्मण के पाँच गुणों में से प्रथम गुण बिना लांछन के पिछली सात पीढ़ियों से अच्छे कुल में पैदा हुआ होना है।[18] स्पष्टतः इनमें से अधिकतर केवल आदर्ष गुण हैं जबकि जन्म की षुद्धता, जिसे सूची में गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। उनके तथाकथित उच्च जन्म, और प्रत्याषित सद्गुणी, सुव्यवस्थित एवं

---

[16]J.H. Hutton, *Caste in India: Its Nature, Function and Origins*, Cambridge: Cambridge University Press, 1946: 81.

[17]D.I.111ff.

[18]याव सत्त्मा पितामहायुगा अक्खित्तो उनुपक्कुट्ठो जातिवादेन *(*D.I.120; DA.I.281; A.I.166, III.152, 233; Sn.315, 596*).*

अनुशासित जीवन के कारण उन्होंने न केवल धार्मिक कार्यों में बल्कि दैनन्दिन कार्यों में भी विषेषाधिकारों का दावा किया।

समाज में ब्राह्मणों द्वारा प्रभुत्व के दावे को क्षत्रियों ने चुनौती दी और जब समाज के शासकों के रूप में उनकी शक्ति बढ़ी, तब उन्होंने ब्राह्मणों के इस प्रकार के व्यवहार के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया। अस्सलायन सुत्त में असित देवल की कथा में इस प्रकार की आलोचना देखी जा सकती है।[19] असित देवल, जो स्वयं एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण पुजारी था, परन्तु जिसे काले रंग के कारण अन्य ब्राह्मण तिरस्कृत करते थे, ने उनकी वंशावली की जाँच–परख करके उन्हें सर्वश्रेष्ठ होने के दावे को त्यागने पर विवष कर दिया। इस तरह की आलोचना के कारण ब्राह्मणों का प्रभुत्व समाज में धीरे–धीरे घटने लगा। इसी प्रक्रिया को गौतम बुद्ध ने आगे बढ़ाया और अंततः उन्होंने ब्राह्मणों के जन्म संबंधी आधार को मानने से इंकार कर दिया।[20] ब्राह्मण अस्सलायन गौतम बुद्ध के पास जाकर कहता हैः "केवल ब्राह्मण ब्रह्मा के पुत्र हैं, उनके मुख से जन्मे हैं, ब्रह्मा से जन्में हैं, ब्रह्मा के द्वारा निर्मित हुए हैं और ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं। इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं?" गौतम बुद्ध उत्तर देते हुए कहते हैंः– "अस्सलायन, ब्राह्मणों की स्त्रियाँ ऋतुणी, गर्भिणी, योनि से प्रसव करती, बच्चों को दूध पिलाती देखी जाती हैं। ब्राह्मणों का जन्म भी अन्य लोगों के समान ही होता है। फिर उनका यह कहना

---

[19]M.II.156ff.

[20]बौद्ध पारिभाषिक षब्दावली में, जाति–आधारित नामों के साथ–साथ ब्राह्मण षब्द को एक सद्गुणी, सुव्यवस्थित एवं अनुशासित जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए और प्रायः अर्हन्त के पर्यायवाची षब्द के रूप में भी प्रयोग किया जाता है। विभिन्न सामाजिक स्तरों के अनेक ऐसे ब्राह्मणों का पालि साहित्य में वर्णन आता है जिन्हें उच्च सम्मान दिया गया है। बुद्ध द्वारा ब्राह्मण षब्द की सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के लिए एक मानोपाधि के रूप में चुनाव भी इसी तथ्य का प्रमाण है कि यह षब्द एक बौद्ध की मनोवृत्ति में एक उदात्त अर्थ, अर्थात् एक वास्तविक श्रद्धा एवं सम्मान पैदा करता था। इस प्रकार, ब्राह्मxञं एक बौद्ध भिक्षु का महानतम सद्गुण माना गया है। *(Vin.*III.72*).*

कहाँ तक उचित है कि केवल ब्राह्मण ही श्रेष्ठ जाति है... वे ही ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं।"[21] ब्राह्मणों का प्रभुत्व उनके यज्ञ–क्षमता की हठधर्मिता से भी जुड़ा था। गौतम बुद्ध ने ब्राह्मणीय याज्ञिक कर्मकाण्डों की भी आलोचना की और बताया कि किस तरह के यज्ञ को सही कहा जा सकता है। इसी प्रकार, ब्राह्मणों द्वारा अपनाई गईं कठोर तापसिक प्रथाओं की भी उन्होंने निन्दा की और खिल्ली उड़ाई।[22]

गौतम बुद्ध का ऐसे विचारों के विरुद्ध मुख्य तर्क यह था कि समाज में जन्म के अनुसार कोई उच्च या निम्न नहीं होता। उन्होंने स्पष्टतः कहा कि किसी भी मनुष्य की स्थिति का निर्धारण समाज में उसके कर्म से होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य का व्यवहार (कर्म) ही उसे उच्च और निम्न बनाता है। गौतम बुद्ध को अपने सामाजिक दर्षन की यह सरल षिक्षा दबंग ब्राह्मणों को समझाने में काफी कठिनाई हुई। भारतीय समाज में उनकी षिक्षाओं के बेहद लोकप्रिय होने के बावजूद, बुद्ध को उनके प्रसार में ब्राह्मणों के षक्तिषाली विरोध का सामना करना पड़ा। पालि साहित्य में बुद्ध के साथ तत्कालीन अनेक प्रतिष्ठित ब्राह्मणों से हुई वार्तालापों की चर्चा मिलती है। इस सम्बन्ध में दीघ निकाय का अम्बट्ठ सुत्त महत्त्वपूर्ण

---

[21]M.II.148f.

[22]M.I.387ff; D.III.6f, 44f; S.IV.338. ब्राह्मण समझते थे कि जल–स्नान से पापों को धोया जा सकता है। पुण्णा थेरी की निम्नलिखित व्यंग्यात्मक टिप्पणी, ब्राह्मणवादी निरर्थक षुद्धीकरण की रीतियों के प्रति बौद्ध रुख़ को दर्षाती है–

अब नहीं, किसने मूर्खों से मूर्ख,
तुझे यह बताया है कि जल–दीक्षा
बुरे कर्म से मुक्त कर देगी?
फिर तो मछलियाँ और कछुए
मेंढ़क, पनिहे, मगर
और वे सब जो जलवासी हैं, सीधे स्वर्ग
को जाएँगे... *(*Thī.vv.240-241*).*

स्थान रखता है।[23] यह सुत्त मुख्यतः जाति–समस्या के संदर्भ में है। अम्बट्ठ, जो कि एक शिक्षित ब्राह्मण था, वह अपने गुरु के आदेश पर बुद्ध के पास यह जानने गया कि गौतम बुद्ध को समाज में जो मान–सम्मान प्राप्त है, वे उसके वास्तविक अधिकारी हैं या नहीं। अम्बट्ठ को ब्राह्मण जाति का होने का बहुत घमण्ड था। उसने बुद्ध के आगे शाक्यों की काफी निंदा की। गौतम ने अम्बट्ठ का घमण्ड तोड़ने के लिए उसे बताया कि उसकी वंशावली का आरम्भ शाक्यों की एक दासी के पुत्र से हुआ था। आगे चली वार्तालाप में गौतम बुद्ध ने उसे बताया कि यदि वंशावली को ध्यान में रखा जाए तो क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं,[24] लेकिन नैतिक तौर पर श्रेष्ठ व्यक्ति का बाह्य व्यवहार उसके आंतरिक ज्ञान का परिणाम होता है और विद्या तथा चरण से युक्त ऐसा व्यक्ति मनुष्यों और देवताओं सबों में श्रेष्ठ होता है।[25] इस प्रकार बुद्ध ने उसे समझाया कि निर्वाण–प्राप्ति के लिए अपनाया जानेवाला धार्मिक जीवन जाति–भेद से स्वतन्त्र होता है। मधुर सुत्त,[26] जिसकी रचना का श्रेय थेर महाकच्चान को दिया जाता है, में दर्शाया गया है कि किस प्रकार आर्थिक सम्पन्नता जन्म द्वारा प्राप्त की गई जातीय श्रेष्ठता को परास्त कर सकती है। इस सुत्त में बताया गया है कि किसी की सेवा प्राप्त करने की क्षमता उसकी जाति पर नहीं, बल्कि धन पर निर्भर करती है। यदि किसी के पास सम्पत्ति है तो वह भले शूद्र ही क्यों न हो, ब्राह्मणों की भी सेवा प्राप्त कर सकता है। मधुरा के राजा, जिसे यह उपदेश दिया गया था, ने यह स्वीकार किया कि

---

[23]D.I.87ff.

[24]गौतम बुद्ध की यह उक्ति कि यदि वंशावली को ध्यान में रखा जाए तो क्षत्रिय श्रेष्ठ है, समाजिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से काफ़ी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इससे ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के काल में क्षत्रियों ने समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर विजय प्राप्त कर ली थी। ब्राह्मणों के अभिमान को मुख्य तौर पर चुनौती देनेवाले क्षत्रिय थे, जिन्होंने उस समय के भारतीय समाज में दो गैर–ब्राह्मणीय धर्मों–बौद्ध एवं जैन– के जनकों को भी पैदा किया।

[25]D.I.99.

[26]M.II.83-90.

ब्राह्मणों द्वारा किया गया दावा ठीक नहीं है और चारों जातियों में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में, वृत्ति से ब्राह्मण केवल पुरोहित का कार्य ही नहीं करते थे बल्कि ऐसे जीविकोपार्जन के लिए वे कई और भी कार्य करते थे। यहाँ तक कि कई ब्राह्मण कसाइयों का काम भी करते थे तथा मुर्दों को ढोते थे जो ब्राह्मणों के खुद बनाए गए नियमों के अनुसार शूद्रों का कार्य था।[27] इससे यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण लोग अपनी तथाकथित जन्म संबंधी श्रेष्ठता को समाज में स्थापित नहीं कर पाए, हालाँकि सैद्धान्तिक तौर पर वे इसका प्रतिपादन करते थे। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि ब्राह्मण के उच्च जाति के होने के दावे को बुद्ध ने मात्र अधिप्रचारक हाँक ***कहा।[28] केवल*** नैतिक वरिष्ठता लौकिक प्रलोभन का सामना कर सकती है। दूसरा प्रश्न जो कच्चान द्वारा उठाया गया वह नैतिक है, जिसमें उन्होंने राजा को यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया कि कर्म के प्रतिकार में पुरस्कार और दण्ड दोनों में जातीय आधार पर कोई भेदभाव नहीं है। नैतिकता और आध्यात्मिकता कोई जन्म से दी गई विशेष छूट नहीं है, बल्कि यह सभी को उपलब्ध है। गौतम बुद्ध ने यही षिक्षा दी कि नैतिक नियम के समक्ष, जाति महत्त्वपूर्ण न होकर, सभी लोग बराबर हैं। मज्झिम निकाय का अस्सलायन सुत्त[29] एक और ऐसा उपदेश है जिसमें ब्राह्मणों के सामाजिक व्यवहार के विरुद्ध तर्क पेश किए गए हैं। इस सुत्त में ब्राह्मणों को बुद्ध की इस बात से रुष्ट दिखाया गया है, जिसमें उन्होंने कहा कि चारों जातियाँ सद्गुण के पालन से शुचिता प्राप्त कर सकती हैं। यहाँ पर गौतम बुद्ध ने तर्क प्रस्तुत किया कि तथाकथित उच्च जाति के किसी व्यक्ति द्वारा चन्दन की लकड़ी से जलाई गई आग वही काम करती है जो निम्न जाति के किसी व्यक्ति द्वारा रेंडी की झाड़ी से जलाने से। जिस प्रकार आग का स्रोत जो भी हो, आग एक ही होती है, उसी प्रकार जन्म से किसी व्यक्ति की जाति चाहे जो भी हो, वह

---

[27]SBE.XXV.150-168.

[28]घोसो येव एसो लोकस्मिं (propagandist cry)।

[29]M.II.147ff.

कर्म के द्वारा आत्मसुधार के उच्चतम षिखर को प्राप्त कर सकता है। विभाजन कैसा भी हो, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक या जातीय, मानवता की आध्यात्मिक एकता के लिए बाधक होता है। प्रख्यात ब्राह्मणों को प्रायः अपने माता–पिता की ओर से सात पीढ़ियों से शुद्ध माना जाता था।[30] इस प्रश्न को अस्सलायन सुत्त के अन्तिम भाग में से लिया गया है जहाँ ऋषि असित देवल ऐसा दावा करनेवाले सात ब्राह्मणों से पूछताछ करते हैं कि क्या वे निष्चित रूप से कह सकते हैं कि पिछले सात जन्मों से उनकी माताओं और दादियों में से कोई अन्यगामिनी नहीं थी। यही प्रश्न वे उनके पिताओं एवं दादाओं के बारे में पूछते हैं और दोनों के उत्तर में ब्राह्मण अनिश्चितता स्वीकार करते हैं। इन प्रश्नों के साथ एक और रुचिकर प्रश्न किया गया है कि क्या ब्राह्मण माँ की कोख में गर्भ धारण करनेवाले 'गन्धब्ब' की जाति बता सकते हैं। अंततः अम्बट्ठ सुत्त में पाई गई विडम्बना यहाँ पर भी मिलती है जब जाति–अनभिज्ञ ब्राह्मणों को यह मानना पड़ता है कि वे नहीं जानते कि वे कौन हैं।[31] ब्राह्मणों द्वारा समाज की जन्म और जाति के आधार पर जलरोधी विभाजन करने की कोषिष का विरोध बुद्ध की शिक्षाओं में साफ पाया गया है। इस सम्बन्ध में उनका एसुकारि ब्राह्मण के साथ हुआ वार्तालाप काफी रुचिकर है।[32] जब एसुकारि ने बुद्ध से कार्यों के आधार पर जातियों और उनके विभाजन के बारे में पूछा, तो उन्होंने बताया कि ब्राह्मणों द्वारा किया गया समाज का विभाजन मनमाना है तथा यह व्यक्ति और समाज की भलाई के लिए ठीक नहीं है। उन्होंने पुनः कहा कि चारों जातियाँ एक समान हैं तथा सभी शुद्ध जीवन निर्वाह की कोशिश कर सकते हैं जो अपनी एवं समाज की सच्ची सेवा है और सही आध्यात्मिक एवं भौतिक सम्पत्ति है। गौतम बुद्ध सामाजिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी आँखों से ओझल नहीं करते और कहते हैं कि जो भी कार्य करना हो वह दक्षतापूर्ण करना चाहिए, अन्यथा उसे अच्छी तरह नहीं

---

[30] A.I.162; D.I.113, 121, 123.

[31] एवं सने भो न मयं जानाम केचि मयं होमा'ति।

[32] M.II.177ff.

किया जा सकता। अगर वृत्ति के आधार पर भी जाति को लिया जाए तब भी चतुर व्यक्ति ही अपने काम को अच्छी तरह कर सकता है। यदि वह अपने कार्य को अच्छी तरह करता है तो उसका पाँच प्रकार से अर्थात् श्रद्धा, षील, शिक्षा, त्याग और प्रज्ञा का विकास होता है। बौद्ध दर्षन के अनुसार ऐसा कोई कारण नहीं जिसकी वजह से किसी एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों को दास और जन्म से नीच समझकर उन पर वंशानुगत रूप से शासन करें तथा उनके स्वामी बने रहें। बौद्धों के विचारानुसार जो भी कार्य किया जाता है, उसका कोई आनुवंशिक महत्त्व नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति समाज में उच्चतम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है बषर्ते कि उसके पास कुछ करने की इच्छा और क्षमता हो। इसी विचार के आधार पर बुद्ध ने संघ के द्वार सभी के लिए, समान रूप से चाहे वे जन्म से किसी भी जाति के हों, खोल दिए। उन्होंने कहा कि जिस प्रकार से गंगा, यमुना, अचिरावती, सरभू और माही जैसी महान नदियाँ समुद्र में मिलने पर अपनी पहचान खो देती हैं, उसी प्रकार संघ में आने के बाद चारों जातियाँ अपने प्रारंभिक नाम और पहचान खो देती हैं।[33] उनके सिद्धान्त की वास्तविकता इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि हीन जाति के लोग भी संघ के प्रतिष्ठित सदस्य बन सकते थे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा कि जन्म की अपेक्षा, सद्गुण, ज्ञान और अभ्यास से प्राप्त किया गया पुण्य ही योग्यता का एकमात्र मापदण्ड है। जन्म किसी भी जाति में हो, इस नियम का पालन करनेवाला सच्चा समाजसेवी होगा तथा अपने एवं अन्य के लिए उपयोगी होगा। गौतम बुद्ध ने भाग्यवादी विचार का विरोध किया क्योंकि यह जन्मानुसार प्राप्त हुई स्थिति को अपरिवर्तनीय मानता है। बुद्ध ने कहा कि व्यक्ति का मात्र कर्म महत्त्वपूर्ण होता है, उसके जन्म की अवस्था नहीं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दा जिसका स्पष्टीकरण करना आवष्यक है वह यह है कि क्या पूर्व जन्म के बुरे कर्म के कारण कोई व्यक्ति हीन जाति में जन्म लेता है। बौद्ध धर्म के कर्म के सिद्धांत में ऐसी संभावना को स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। समाज में जाति,

[33] Vin.II.239.

धर्म, नस्ल आदि पर आधारित श्रेणीकरण सर्वव्यापक हैं जिन्हें पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता। इन्हें सामाजिक जीवन के एक भाग के रूप में लिया जाना चाहिए। समाज में विभाजनवादी क्रियाकलापों के विरुद्ध कार्य करने के लिए प्रेरित करते हुए बुद्ध ने कहा कि अच्छे कर्म से अपनी दषा सुधारी जा सकती है। यदि बुरे कर्म से किसी का हीन जाति में जन्म होता है, वह अच्छे कर्म से इसी जन्म को कुलीन बना सकता है। असल में, परिश्रमी व्यक्ति कर्म के द्वारा अपनी कायापलट करने में सक्षम होते हैं और सही बौद्धों से यही अपेक्षा की जाती है। एक व्यक्ति की सदाचारी योग्यता को सामाजिक मान्यता मिलनी चाहिए, चाहे वह किसी भी जाति का हो और प्रत्येक को अपनी क्षमता *(upanissaya)* के अनुसार सदाचारी एवं आध्यात्मिक विकास का अवसर मिलना चाहिए। गौतम बुद्ध ने जाति–व्यवस्था के विरुद्ध एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया कि जैविक तौर पर *(*biologically*)* मानवों की एक ही जाति *(*species*)* है और जन्म के आधार पर भेदभाव करना मानव जाति की जैविक एकता का उल्लंघन है। इस आधार पर भी उन्होंने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा विषेषाधिकार के दावे को स्वीकार नहीं किया। मानव जन्म से भिन्न नहीं, बल्कि कर्म से भिन्न होते हैं और आनुवंशिक रूप से *(*genetically*)* एक ही जाति के हैं। इस सच्चाई को आसानीपूर्वक एक ओर वनस्पतियों और जन्तुओं के आपसी अन्तर तथा दूसरी ओर मानव–जाति के बीच के अन्तर के द्वारा देखा जा सकता है। ***इस वैज्ञानिक सत्यता को*** *सुत्त–निपात* ***के*** *वासेट्ठ सुत्त*[34] ***में बड़ी अच्छी*** तरह से विश्लेषित किया गया है। सुत्त का प्रारंभ दो ब्राह्मणों के बीच इस परिचर्चा से होता है कि कोई ब्राह्मण जन्म के आधार पर बनता है या कर्म के आधार पर। निर्णय न कर पाने पर वे दोनों उत्तर के लिए गौतम बुद्ध के पास जाते हैं। बुद्ध कहते हैं कि घास, पेड़, मछली, जंगली जानवर, चिड़ियों आदि में विभिन्न प्रजातियाँ पाई

---

[34]Sn.115ff.

जाती हैं, लेकिन मनुष्यों की केवल एक ही प्रजाति है।[35] गौतम बुद्ध उदाहरण देकर समझाते हैं कि मनुष्यों को उनकी वृत्तियों के आधार पर विभिन्न नाम दे दिए गए हैं। गौतम ने कहा कि पौधों और जन्तुओं में बहुत–सी जातियाँ और चिह्न (species and marks) पाए जाते हैं जबकि मनुष्यों में ऐसी कोई जाति या चिह्न नहीं ***है।***[36] ***आर.*** चैल्मर्स के ***अनुसार गौतम "के विचार आधुनिक जैवविज्ञानियों के निष्कर्ष से मेल खाते थे कि मानवकल्प एक ही वंश तथा जाति, मनुष्य, का प्रतिनिधित्व करता है।"***[37] ***गौतम बुद्ध के अनुसार, मनुष्यों के बीच जो विभिन्नताएँ हैं वे जैविक नहीं बल्कि केवल परम्परागत और नाम–मात्र*** *(सामञ्ज)* ***हैं। गौतम बुद्ध समाज का विकासमूलक स्पष्टीकरण देते हुए बताते हैं कि समाज का चतुर्वर्णीय विभाजन वृत्तियों के आधार पर किया गया था।***[38] ***विडम्बना की गहरी झलक के साथ, बुद्ध ने ब्राह्मणों के इस विचार पर अविश्वास प्रकट किया कि चतुर्वर्णीय व्यवस्था में सदस्यों को सौंपे गए कर्त्तव्यों का निर्वाह करना अनिवार्य है।***[39] ***बुद्ध*** ने ब्राह्मणों के इस दावे को भी गलत बताया कि मोक्ष–प्राप्ति उनका विशेषाधिकार है। उन्होंने कहा कि सभी में मोक्ष प्राप्त करने की एक–सी क्षमता है ***तथा प्राप्त किए***

---

[35]बुद्ध ने अस्सलायन सुत्त में आनुवंशिक जाति–भिन्नताओं (genetical caste distinctions) की तुलना में जैविक एकता (biological unity) को और आगे स्पष्ट करते हुए बताया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय के बीच संभोग से पैदा हुआ बच्चा केवल मानव ही होगा, लेकिन एक गधे और घोड़ी के बीच संभोग से केवल खच्चर पैदा होगा (M.II.154)।

[36]M.II.196f; Sn.vv.600ff.

[37]"Gautama was in accord with the conclusion of the modern biologists, that the *anthropidae* are represented by the single genus and species, Man." (R. Chalmers, *JRAS*, 1994: 396).

[38]D.III.80ff.

[39]M.II.151f.

गए मोक्ष के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता।[40] *ब्राह्मणों के श्रेष्ठ होने के दावे के विरुद्ध गौतम के इस प्रकार के तर्क का यह आशय नहीं था कि क्षत्रिय ब्राह्मणों से ऊपर हैं, बल्कि यह स्थापित करना था कि सभी मनुष्य अपनी क्षमता के आधार पर एक समान* (समसम) *हैं। गौतम बुद्ध ने क्षत्रियों और वैश्यों के श्रेष्ठ होने के दावे का भी खण्डन किया।* उन्होंने जोर देकर कहा कि मनुष्य जन्म से ब्राह्मण या हीन नहीं बल्कि अपने कर्म से ब्राह्मण *या हीन बनता है।*[41] *ब्राह्मण होने की प्राचीन विचारधाराओं की तुलना में गौतम बुद्ध ने सही ब्राह्मण होने के* शील *और* प्रज्ञा *नामक दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड प्रस्तुत किए।*[42] *बाद के बौद्ध विचारकों ने भी मनुष्यों की समानता पर जोर दिया है। उदाहरणस्वरूप,* वज्रसूची *में अश्वघोष कहते हैं कि "चतुर्वर्णीय सिद्धांत बिल्कुल गलत है। सभी मनुष्यों की श्रेणी एक है।"*[43]

ब्राह्मण, जो स्वयं को उक्कट्ठकुलीन *(उच्च जाति) मानते थे,*[44] *की तीखी तुलना में पालि साहित्य में चण्डाल,* नेषाद (अथवा निषाद)*, वेण, रथकार और पुक्कुस, नामक पाँच वर्गों को* 'नीचकुलों ' *के रूप में दिया गया है।*[45] *इन पाँच नीचकुलों में पैदा होना अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता था क्योंकि केवल पापी लोग ही इन कुलों में जन्म लेते थे। इन जातियों में जन्मे व्यक्तियों को न सिर्फ दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में*

---

[40] M.II.129, 130, 147.

[41] Sn.vv.116-142; J.IV.301ff.

[42] सोणदण्ड सुत्त (D.I.124f).

[43] See, H.H. Wilson, *Indian Caste,* London, 1877: 202ff.

[44] Vin.IV.6.

[45] Vin.IV.6, 9; M.II.152, 183f; S.I.93; A.I.107, II.85, III.385; Pug.51. कुछ ग्रन्थों में, छपक नामक हीन जनजाति का भी वर्णन आता है (Vin.IV.203)।

कठिनाई होती थी बल्कि वे अनेक शारीरिक अक्षमताओं से भी प्रतिबंधित होते थे।[46]

चूँकि निषाद शिकारी जनजाति[47] के थे, अतः यह व्याख्या करना कठिन नहीं है कि निषादों को अत्यन्त नापसन्द तथा विद्वेष जातियों की सूची में क्यों शामिल किया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध सूचना के अनुसार, वे लोग प्राक्–आर्य थे, जिनके षारीरिक अंग छोटे, झुलसी लकड़ी जैसा रंग, लाल–खूनी आँखें, ऊँची गण्डास्थियाँ, चिपटी नाक एवं ताम्र वर्ण के केश थे।[48] उनकी अनूठी उत्पत्ति की किंवदन्ती, जिसके अनुसार उनका उद्भव राजा वेण,[49] जो पुजारी वर्ग के लिए क्रूर सिद्ध हुआ, के जंघस्थल से हुआ था, षायद उनके द्वारा हो रहे ब्राह्मणीकरण के विरोध को दर्षाता है। बौधायन के अनुसार निषाद ब्राह्मण पिता तथा शूद्र माता की सन्तान था।[50] ब्राह्मण समाज में प्रवेष मिलने के बाद भी निषाद पहले की भाँति शिकारी बने रहे तथा ***अपने ही गाँवों में रहते रहे।***[51] *महाभारत* ***और*** *विष्णु पुराण* ***में कृष्ण वर्ण के कुछ निषादों के उल्लेख मिलते हैं।***[52] ***वैदिक काल के अन्त तक रथकारों तथा निषादों को यज्ञ की सुविधाएँ उपलब्ध थीं, लेकिन उसके बाद उन्हें निम्नीकृत कर दिया गया।***[53]

---

[46]M.III.169; S.I.93f.

[47]Vin.IV.7; J.IV.364.

[48]R.S. Sharma, *Śūdras in Ancient India*, 3rd revised edition, Delhi: Motilal Banarsidass:1990:143 fn 1 & 2.

[49]See, R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990:142 fn 3.

[50]R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990:113 fn 7; 132 fn 6 पर उद्धृत।.

[51]J.II.200; VI.71f, 170.

[52]R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 78 पर Shafer, *Ethnography of Ancient India*, 10 से उद्धृत किया गया।

[53]R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 78-79.

वेण एक अन्य आदिवासी जनजाति थे जो शिकार तथा बाँस का सामान बनाकर अपना निर्वाह करते थे।[54] एक *जातक* ***में वेणुकार/वेळुकार का वर्णन है जो बेचने के लिए बाँस इकट्ठा करने हेतु कुल्हाड़ी लेकर जंगल जाता है।[55] ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार, वेण (वैश्य पिता तथा क्षत्रिय माता से जन्मे) वैदेहक पिता*** तथा (ब्राह्मण पिता तथा ***वैश्य माता से जन्मी) अम्बट्ठ माता के वंशज थे।[56] इस प्रकार, चण्डालों तथा पुक्कुसों की तुलना में, वेणों को शूद्र रक्तवाला नहीं माना जाता था। यद्यपि एक*** *जातक* ***में,*** *'वेणी'* ***शब्द का उल्लेख दण्ड के सन्दर्भ में चण्डालों के साथ किया गया है,[57] तथापि इस बात का सबूत कहीं नहीं मिलता है कि वेणों की गणना चण्डालों के साथ अछूतों में की जाती थी।*** *विनय पिटक* ***की*** *अट्ठकथा* ***के अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वेण के रूप में जन्म लेने को बढ़ई (****तच्छक****) माना जाता था।[58]***

रथकार, जो वैश्य पिता तथा शूद्र माता की सन्तान थे,[59] रथ–निर्माता या गाड़ी बनानेवाले थे।[60] टी॰डब्ल्यू॰ रायस डेविड्ज़ का सुझाव है कि वे एक आदिवासी जनजाति थे।[61] हालाँकि रथकारों को राजाओं के द्वारा रथों के पहियों के

---

[54] Vin.IV.6; S.I.93; A.II.85, III.385; Pug.51; PvA.175.

[55] J.IV.251.

[56] देखें, R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990:142 fn 1.

[57] J.V.306.

[58] वेणजाति ति तच्छकजाति *(*SBB.IX.173. J.V.306 भी देखें*)*.

[59] देखें, R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 132 fn 9.

[60] S.I.93; Vin.IV.9; M.II.152, 183f. PvA.175 पर इस जाति की व्याख्या चम्मकारिन *(*मोची*)* के रूप में की गई है।

[61] DB.I.100.

निर्माण के लिए किराये पर बुलाया जाता रहा,[62] लेकिन एक जातक *में दिए गए उल्लेख के आधार पर यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि चमड़े का काम करने के कारण वे समाज में निम्नीकृत हो गए।[63] बौद्ध ग्रन्थों में रथकारों के साथ तिरस्कृत जाति जैसा व्यवहार क्यों किया जाता* था, इसका एक कारण शायद यह हो सकता है कि बौद्धों को युद्ध से घृणा थी और *रथकार* उसके लिए रथ *बनाते थे।[64] किसी भी तरह यह तो स्पष्ट है कि उनका चण्डालों की तरह निम्नीकरण नहीं हुआ था।*

पुक्कुस, जो निषाद पुरुष और शूद्र स्त्री से उत्पन्न हुए थे,[65] झाड़ू–बरदार अथवा कचरा हटानेवाले लोग थे।[66] इस प्रकार, वे मिश्रित जनजाति के प्रतीत होते हैं। वे शिकार द्वारा निर्वाह करते थे,[67] लेकिन ब्राह्मण समाज में थोड़ा–थोड़ा करके उन्हें मन्दिरों और प्रासादों में पड़े हुए मुरझाये फूलों को हटाने जैसे कार्य करने के लिए सम्मिलित कर लिया गया था।[68] यह तथ्य कि वे फूलों को हटाने के लिए मन्दिरों के आँगनों में प्रवेश कर सकते थे इस बात का संकेत देता है कि इन लोगों को चण्डालों जितना नीच नहीं माना जाता था।

---

[62] A.I.111-113.

[63] A.N. Bose, *The Social and Rural Economy of North-East India*, vol. 2, Calcutta: 1942-45, II.456.

[64] R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990:142.

[65] देखें, R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 132 fn 7.

[66] A.I.107, II.85; Pug.51; Vin.IV.6. Also see, R. Fick, *Social Organization in North-East India in Buddha's Time*, tr. S.K. Mitra, Calcutta: University of Calcutta: 1920: 206f.

[67] हालाँकि बौद्ध ग्रन्थों में इसका संकेत नहीं मिलता, तथापि विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका पेषा षिकार दिया गया है (देखें, R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 141 fn 5)।

[68] J.III.195.

चण्डाल सबसे भाग्यहीन लोग थे जिन्हें प्रायः दुष्टचण्डाल[69] *तथा* महाचण्डाल[70] *से अपशब्दों द्वारा सम्बोधित किया जाता था। मूलतः चण्डाल एक आदिवासी जनजाति के प्रतीत होते* हैं। यह उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने*वाली बोली से स्पष्ट होता है।*[71] *लेकिन बाद में वे एक मिश्रित जनजाति में परिवर्तित हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि उनमें से कुछ आकृतिक रूप से भिन्न न दिखने के कारण अपनी पहचान को छिपा सकते थे।*[72] *उत्तर वैदिक साहित्य और* मनुसंहिता *भी चण्डालों को मिश्रित उत्पत्ति की अत्यन्त निम्न जाति मानते हैं जो शूद्र पिता तथा ब्राह्मण माता के वंशज थे।*[73] *इस सिद्धान्त के अनुसार, पिता की जाति जितनी निम्न और माता की जाति जितनी उच्च हो, सन्तान उतनी ही निम्न जाति की होगी। यही कारण था कि चण्डालों को मिश्रित जातियों में अधिकतम हीन व घृणा का पात्र माना जाने लगा। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार चण्डाल और पुक्कुस शूद्र जाति में सम्मिलित नहीं थे।*[74] *टी॰डब्ल्यू॰ रायस डेविड्ज़ का विचार है कि ये लोग मूलतः घृणित आदिवासियों का एक गुट थे, जिनके साथ आर्यों ने इसी प्रकार का व्यवहार किया।*[75] *चूँकि विजयी आर्य लोग सभी आदिवासियों को रंग एवं अन्य कारणों से स्वयं अपने से काफी नीचा समझते थे, चण्डाल भी एक ऐसा गुट हो सकते हैं जिन्हें किसी न किसी कारणवश अधिक घृणा का*

---

[69] J.IV.392, 397; A.I.107, 162, II.85; Vin.IV.6; M.II.152; S.V.168; Pug.51.

[70] J.IV.200.

[71] J.IV.391f.

[72] J.IV.390-401.

[73] R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 71.

[74] S.I.102, 106.

[75] T.W. Rhys Davids, *Buddhist India*, New York: G.P. Putnam's Sons: 1903: 40.

पात्र माना जाने लगा।[76] *महावस्तु* ***में चण्डालों को पक्षियों के शत्रुओं की सूची में शामिल किया गया है।***[77] ***चण्डालों*** को एक जातक में ***नेवला–प्रशिक्षक*** *(कोण्ड–दमक)*[78] ***तथा एक अन्य*** *जातक* ***में*** *चण्डालवंसधोपन*[79] ***सीखनेवाला बताया गया है। धीरे–धीरे उन्हें अछूत समझा जाने लगा।*** एक जातक में दी गई कथा के अनुसार जब एक चण्डाल ने एक ***शहर में प्रवेश किया, तो लोगों ने उस पर प्रहार करके उसे बेहोश कर दिया।***[80] ***चण्डालों से किस सीमा तक घृणा की जाती थी इसका अनुमान कुछ*** *जातकों* ***में दी गई विभिन्न घटनाओं से लगाया जा सकता है। चण्डाल के शरीर से स्पर्श होकर आनेवाली हवा को भी दूषित माना जाता था। एक*** *जातक*[81] ***के अनुसार, एक युवा ब्राह्मण, जिसे अपनी जाति का काफी मिथ्याभिमान था, अपने मित्रों के साथ नगर से कहीं बाहर जा रहा था।*** तभी उसने एक चण्डाल को देखा। चूँकि हवा चण्डाल की ओर से आ रही थी और यह सोचकर कि यही हवा उसे भी छूकर दूषित कर देगी, उसने चण्डाल को गाली देकर दूसरी ओर हो जाने का आदेष दिया तथा खुद उधर दौड़ा जिधर से हवा आ रही थी। परन्तु चण्डाल युवक ने उसके आदेश को मानने से इंकार कर दिया और स्वयं हवा की दिशा में खड़ा हो गया। इससे ब्राह्मण काफी नाराज़ हुआ और चण्डाल को जी भरकर गालियाँ दीं। लेकिन तब चण्डाल ने ब्राह्मण को अपने एक प्रश्न का उत्तर इस शर्त पर देने के लिए

---

[76] G.S. Ghurye, *Castes and Race in India*, London: 1932: 47-48.

[77] Mv.II.251.5.

[78] J.IV.389.

[79] J.IV.390 *(*अंग्रेज़ी में इस षब्द का अनुवाद विभिन्न प्रकार से किया गया है, जैसे “चण्डाल नस्ल में झडू–बरदारी की कला,” “चण्डालीय कलाबाज़ी का करतब”*)*।

[80] J.IV.376, 391.

[81] J.III.232-237.

ललकारा कि अगर वह उत्तर देने में असफल रहता है तो ब्राह्मण को अपने पैरों के नीचे रखेगा। जब ब्राह्मण उत्तर देने में असफल रहा, तब चण्डाल ने ब्राह्मण को जबरदस्ती पैरों के नीचे दबोच लिया। यह उदाहरण जाति के प्रति न केवल बौद्धों के विचार को दर्षाता है, बल्कि ब्राह्मणों को फटकारते हुए जाति पर विद्या (ज्ञान) की वरिष्ठता का भी संकेत देता है। लेकिन यह घटना ब्राह्मणों की चण्डालों ***के प्रति घृणा को भी प्रकट करती है।***

चण्डाल का दर्शन भी अशुभ माना जाता था।[82] ***उच्च जातीय लोगों, विशेषकर महिलाओं, की दृष्टि यदि दूर से भी किसी चण्डाल पर पड़ जाती थी तो वे उस दूषण को हटाने के लिए अपनी आँखों को सुगन्धित पानी (*गन्धोदक*) से धोती थीं।*** *चित्त–सम्भूत जातक*[83] ***में बताई गई*** एक और घटना के अनुसार, दो स्त्रियाँ, एक धनी व्यापारी की लड़की तथा दूसरी राजकीय पार्षद की लड़की, जो नगर के द्वार की ओर खेलने जा रही थीं, ने दो चण्डाल भाइयों को देखकर सुगन्धित पानी से अपनी आँखों को धोया और वापस लौट गईं। बेचारे चण्डालों को लोगों ने खूब पीटा क्योंकि उनके कारण लोगों को एक अच्छे भोज से वंचित रहना पड़ा। इसी तरह की एक ***घटना का*** *मातंग जातक*[84] ***में भी उल्लेख है जिसके अनुसार बनारस के एक सेठ की पुत्री ने जब एक चण्डाल को देखा तो उसने सुगंधित जल से अपनी आँखों को धोया क्योंकि वे उस तिरस्कृत व्यक्ति को देखकर दूषित हो गई थी।***

खाने–पीने की वस्तुओं पर यदि किसी चण्डाल की नज़र भी पड़ जाती थी तो उन्हें खाना वर्जित था और चण्डाल के भोजन को अनजाने में खाने पर भी समाज से

---

[82] J.IV.376, 391.

[83] J.IV.390-401.

[84] J.IV.375-390.

बहिष्कृत कर दिया जाता था।[85] *सतधम्म जातक*[86] ***में भी जाति–नियमों की क्रूरता का उदाहरण मिलता है। इस*** *जातक* ***की कथा के अनुसार दो युवक, एक ब्राह्मण और एक चण्डाल, किसी लम्बी*** यात्रा पर एक साथ जाते हैं। प्रसंगवष, यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक ब्राह्मण का किसी चण्डाल के साथ यात्रा करना एक असाधारण बात थी। केवल चण्डाल युवा, जो बोधिसत्त्व था, यात्रा पर खाद्य–सामग्री लेकर गया। रास्ते में भोजन से पूर्व चण्डाल ने ब्राह्मण को शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया, जिसे निस्सन्देह ब्राह्मण ने ठुकरा दिया। दिनभर यात्रा करने के बाद बोधिसत्त्व ने षाम को अपना भोजन दूसरी बार किया। ब्राह्मण, जो इस समय तक काफी थक चुका था, तेज भूख का अनुभव कर रहा था। उसकी भूख ने उसे उसकी जाति के बारे में सब भुला दिया और इस बार उसने चण्डाल से भोजन माँगा और खाया। भोजन समाप्त करने के शीघ्र बाद उसे काफी दुःख तथा पष्चात्ताप हुआ कि उसने ब्राह्मण होकर चण्डाल का अवषिष्ट एवं उच्छिष्ट हुआ भोजन खाया और खून के साथ उसकी उल्टी कर दी। इस भूल से उसने खुद को इतना दोषी समझा कि उसने भूखे रहकर मरने का फैसला किया और आत्महत्या करने के लिए जंगल की ओर चला गया। यहाँ बौद्ध लेखकों द्वारा ब्राह्मणों के नियमों का उपहास भी उड़ाया गया है कि किसी ब्राह्मण को चण्डाल से भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। एक ***और*** *जातक*[87] ***में*** उल्लिखित किया गया है कि ऐसा करने से ब्राह्मण अपनी जाति खो बैठता है। इस जातक के अनुसार 16000 ब्राह्मणों को जाति से बहिष्कृत कर दिया गया क्योंकि एक चण्डाल द्वारा पकाकर बचे चावलों का पानी उनके मुँह में चला गया था। ***ऐसे भोजन के प्रति घृणा इतनी अधिक थी कि*** *सतधम्म जातक*[88] ***की प्रस्तावना में बुद्ध कहते हैं कि जारजता से प्राप्त***

[85] J.IV.390.

[86] J.II.82ff.

[87] J.IV.388.

[88] J.II.82.

किए गए भोजन को खाना उनके अनुयायियों के लिए एक चण्डाल द्वारा छोड़े गए जूठे भोजन को खाने के समान है।

एक और जातक[89] की कथा में भी एक चण्डाल को एक ब्राह्मण संन्यासी का घमण्ड तोड़ते हुए दिखाया गया है। हालाँकि इस कथा का उद्देश्य जाति–व्यवस्था के प्रति ब्राह्मणों के विचारों का उपहास करना था, लेकिन यह कहानी समाज में चण्डालों की निम्न स्थिति को भी दर्षाती है। इस कथा के अनुसार, एक ब्राह्मण संन्यासी की कुटिया एक नदी के तट पर थी और वहीं पास में एक चण्डाल भी रहता था। एक दिन जब संन्यासी नदी में स्नान कर रहा था, तभी चण्डाल के द्वारा नदी में ऊपर की ओर से फेंका गया एक ख़िलाल *(दन्तकट्ठं)* संन्यासी के बालों में अटक गया। इस पर संन्यासी ने अत्यधिक क्रुद्ध होकर उसे झिड़का तथा कहीं और चले जाने का आदेश दिया।

कुल मिलाकर, जातकों में देखने को मिलता है कि वैसे तो उच्च जातियाँ चण्डालों को अछूतों के रूप में तुच्छ समझती थीं, लेकिन ब्राह्मण उनसे विशेष रूप से घृणा करते थे। ब्राह्मणों द्वारा समाज में सम्मिलित कर लिए जाने के बाद भी चण्डालों के रहन–सहन में कोई अन्तर नहीं आया। चण्डालों का जीवन दुःखपूर्ण और गंदगी से भरा हुआ था। पालि साहित्य की एक उपमा से पता चलता है कि एक चण्डाल लड़का या लड़की, फटे–पुराने कपड़े पहने, हाथ में भिक्षापात्र (कलोपिहत्थ) लिए, विनम्रता धारण करके ही किसी बस्ती में प्रवेष करता है।[90] प्रचलित भाषा–शैली में 'चण्डाल' षब्द एक ऐसे व्यक्ति को प्रदषित करता है ***जिसका कोई शील, चरित्र या अस्तित्व न हो।[91] रिचर्ड फिक ने ठीक ही कहा है***

[89]J.IV.388.

[90]कलोपिहत्थो नन्तिकवासी गामं वा निगमं वा पविसन्तो नीचचित्तं यव उतट्ठपेत्वा पविसति *(*A.IV.376*)*।

[91]A.III.206.

कि जातकों *में चण्डालों का जो चित्रण किया गया है, वह पुरोहिती सिद्धान्त से अधिक भिन्न नहीं है।*[92]

ब्राह्मणों का चण्डालों के प्रति व्यवहार इतना कठोर व तिरस्कारपूर्ण था कि अगर कोई ब्राह्मण भी किसी चण्डाल नारी को पत्नी बना लेता था तो उसे मुख्य प्रसंविदा का उल्लंघनकर्त्ता मानकर 'ब्राह्मण चण्डाल' *कहा जाता था।*[93] *स्रोतों* की सूचना के अनुसार, चण्डालों का भिक्षापात्र ऐसे बनाया जाता था कि एक डण्डे के एक सिरे पर एक छोटा–सा बर्तन लगा होता था ताकि देने और लेनेवाले में कोई सम्पर्क *न हो पाए।*[94] *जिस प्रकार चण्डालों की उत्पत्ति की व्याख्या ठीक से नहीं की जा सकती उसी प्रकार उनकी पेशागत ज़िम्मेदारियों के बारे में भी कुछ ठीक से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः शिकारी तथा बहेलिया होने के कारण से उन्हें ऐसे कार्यों के साथ जोड़ा गया प्रतीत होता है जिनमें मृत प्राणियों के शवों को हटाना तथा गाड़ना,*[95] *जल्लाद का कार्य करना,*[96] *अपराधियों* के शरीर के अंगों को *काटना,*[97] *शवपेटी बनाना तथा कब्र खोदना*[98] *आदि शामिल थे। चण्डालों को कभी–कभी गलियों में झाड़ू लगाने के कार्य पर भी लगाया जाता था।*[99]

चण्डालों से इतनी घृणा की जाती थी कि उन्हें समाज से पूरी तरह बहिष्कृत रखा गया था। इसके

---

[92] R. Fick, *Op. Cit*: 318.

[93] A.III.228-228.

[94] A.IV.376.

[95] छवछड्डुक–चण्डाला *(*J.III.195*).*

[96] चोरघातक। देखें, A.N. Bose, *Op. Cit*: 438.

[97] J.III.41, 179.

[98] J.H. Hutton, *Caste in India: Its Nature, Function and Origins*, Cambridge, Cambridge University Press, 1946: 145.

[99] J.IV.390.

परिणामस्वरूप, उन्हें उन्हीं के लिए उद्दिष्ट किए गए *चण्डालगामों* ***में नगरों से बाहर (****बहिनगरे****) रहने पर बाध्य किया जाता था।***[100] ***ऐसा*** प्रतीत होता है कि ब्राह्मणीय समाज के आदेषानुसार जब भी चण्डालों को भिक्षा या अपने पेषे से सम्बन्धित कार्यवश किसी गाँव या नगर में प्रवेष करना होता था तो यह आवष्यक था कि वे दूसरों से अलग दिखाई पड़ें। एक जातक से यह पता चलता है कि षेष लोगों से अपनी पहचान को अलग बनाने के लिए एक चण्डाल के पास एक जोड़ी रंगे हुए वस्त्र, एक कमरबन्द, चिथड़ों ***की पोशाक तथा मिट्टी का कटोरा थे।***[101] *चित्तसम्भूत जातक*[102] ***में*** दो चण्डाल भाइयों की कथा बताई गई है जो ब्राह्मणों के वेष में तक्षशिला में एक शिक्षक के पास विद्याध्ययन के लिए जाते हैं। बाद में, दोनों में से एक का जब गरम खीर खाने से मुंह जल जाता है, तब वह अपने आपको भूलकर चण्डाली भाषा में चिल्लाना शुरू कर देता है, जिससे उनकी चोरी पकड़ी जाती है। कथा के अनुसार, उन्हें तुरन्त वहां से भगा दिया जाता है और वे संन्यासी बनने के लिए जंगल की ओर चले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी बोली की यह भिन्नता उनकी सारी भाषा की न होकर केवल कुछ शब्दों और अभिव्यक्तियों की ही होगी जो बाकी के लोगों से उनके अलग किए जाने के कारण उनकी मूल भाषा में से कुछ अंषों के रूप में बच गई होगी। पालि साहित्य में कभी–कभी 'चण्डाल' शब्द का प्रयोग 'तिरस्कृत' के अर्थ में किया गया है। इस प्रकार, जब एक गीदड़ किसी शेरनी से शादी का प्रस्ताव रखता है तो वह उसे फटकारते हुए कहती है कि ***मनुष्यों में चण्डाल की भाँति गीदड़ चौपाया जानवरों में सबसे निम्न और घटिया होता है।***[103] ***शेरनी गीदड़ के प्रस्ताव से इतना अपमानित महसूस करती है कि वह आत्महत्या कर लेती है। लेकिन,*** *जातकों* ***में एक ऐसी***

---

[100] J.IV.376, 390 etc.

[101] J.IV.379.

[102] J.IV.390-401.

[103] चण्डाल–सदिसो *(J.II.6)*।

घटना भी मिलती है जो सामान्य से परे है। *छवक जातक*[104] ***में एक राजा चण्डाल के व्यवहार से इतना खुश हो जाता है कि उसे एक नगर का सुरक्षा–प्रधान बना देता है।***

छुआछूत के उ˜व के अनेकों कारण बताए गए हैं, जैसे– अन्तर्जातीय मिश्रण,[105] ***बौद्ध*** समुदायों का संपूर्ण अलगाव एवं परम्परा का अन्त,[106] गोमांस खानेवालों को ब्राह्मणीय समाज द्वारा अछूतों के रूप में दण्डाज्ञा,[107] अछूतों के प्रति द्रविड़ों की मानसिक दुर्भावना एवं वितृष्णा का प्रभाव[108] या फिर कुछ पेशों की सैद्धान्तिक अषुद्धता।[109] ***अधिकतर मिश्रित जातियाँ पिछड़ी जनजातियों के अतिरिक्त कुछ नहीं थीं जिन्हें मूल चार वर्णों में सम्मिलित करके उन***की मनमाने ढंग से उत्पत्ति दिखा दी गई।[110] ***ऐसा प्रतीत***

---

[104]J.III. 27-30. Vin.IV.203 भी देखें।

[105]धर्मसूत्रों के अनुसार छुआछूत का उ˜व अंतर्जातीय मिश्रण के कारण हुआ (R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 144)।

[106]*Modern Review*, Calcutta, December 1923: 712-13. लेकिन यह मौर्य काल के बाद की घटना प्रतीत होती है।

[107]B.R. Ambedkar, *The Untouchable (Who are They? And Why They became Untouchables?)*, New Delhi: 1948: Ch. X. ऐसा होने से बाद के समय में उनकी संख्या में वृद्धि तो हो गई होगी, लेकिन यह उनके उ˜व का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि इस काल के ब्राह्मणीय समाज में गोमांस पर प्रतिबन्ध का कोई विषेष प्रमाण नहीं मिलता। (R.S. Sharma, *Op. Cit* 1990: 144).

[108]R.C.. Dutt, *A History of Civilization in Ancient India*, Calcutta, 1891: 106f. लेकिन इस बात का प्रमाण कहीं नहीं मिलता कि द्रविड़ों का ब्राह्मणीकरण होने से पहले उनमें छुआछूत प्रचलित था। (देखें, R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990: 145).

[109]G.S. Ghurye, *Castes and Class in India*, Bombay, 1950: 159. लेकिन यह सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि कुछ पेषों को अषुद्ध माना जाने के कारणों का कोई संतोषजनक उत्तर अभी तक नहीं मिल पाया है।

[110]R. Fick, Op. Cit.: 9.

होता है कि जनजातीय बस्तियों के निवासियों को सामूहिक रूप से ब्राह्मणों द्वारा अछूत घोषित कर दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों द्वारा बनाए गए जातीय नियमों का गम्भीर उल्लंघन करनेवाले लोगों को जाति–व्यवस्था से बाहर किए जाने के परिणामस्वरूप इनकी संख्या में काफी वृद्धि हुई होगी। इसलिए, शायद अस्पृष्यता के उ˜व का मुख्य कारण आदिवासी जनजातियों का सांस्कृतिक पिछड़ापन था, क्योंकि ये नगर–निर्माण करने तथा धातुओं और कृषि का ज्ञान रखनेवाले ब्राह्मणीय समाज के सदस्यों की तुलना में मुख्यतः शिकारी और बहेलिये थे।[111] ***इन जनजातियों की निम्न स्तर की आर्थिक दशा और उससे उत्पन्न संकटपूर्ण जीवन को पालि साहित्य में इस प्रकार दिखाया गया है***– "आवारगी जीवन, अभाव और दरिद्रता, पेट के लिए खाने–पीने तथा तन ढँकने के लिए कपड़ों की दुर्लभता।"[112] ***इससे ऐसा लगता है कि इन तिरस्कृत जातियों का जीवन भाग्यहीन था और शूद्रों की अवस्था से भी खराब था क्योंकि शूद्रों में कम से कम कुछ को तो दासों*** तथा कर्मकारों के रूप में सुरक्षित जीविकोपार्जन के अवसर प्राप्त तो थे ही। रामषरण शर्मा के अनुसार, उत्तर वैदिक काल में उच्चवर्णीय लोग, जो अपनी स्थिति और कार्य में अनुवांशिक रूप से अग्रसर थे, धीरे–धीरे प्राथमिक उत्पादन को छोड़ने लगे और न सिर्फ शारीरिक श्रम को बुरा समझने लगे, बल्कि उनलोगों से भी घृणा करने लगे जो शारीरिक श्रम करते थे।[113] आदिवासियों की निम्नस्तर की ***आर्थिक*** दषा के परिप्रेक्ष्य में, शारीरिक श्रम के लिए बढ़ती हुई घृणा तथा कुछ वस्तुओं से जुड़ी अशुद्धता और निषिद्धता के आद्य विचारों ने मिलकर छुआछूत नामक

[111] *Ibid.*: 324.

[112] न लाभी अन्नस्स वत्थस्स यानस्स *(*M.III.169-70; A.II.85*)*।

[113] R.S. Sharma, *Op. Cit.*1990:145-46.

अद्वितीय सामाजिक संवृत्ति को जन्म दिया। यह विशेषकर चण्डालों के लिए सही प्रतीत होता है क्योंकि वे शवों से संबंधित कार्य करते थे, जिनका सम्बन्ध अशुद्धता एवं भय के आद्य विचारों से था। इसके फलस्वरूप, ऐसे लोगों से दूर रहना आवष्यक हो गया होगा। बाद के समय में, अस्पृष्यता को न केवल निषादों और पुक्कुसों बल्कि मोचियों एवं जुलाहों पर भी लागू कर दिया गया।[114]

हालाँकि तृतीय जाति, अर्थात् वैश्य जाति के कुछ सदस्य आर्थिक रूप से काफी सम्पन्न हो गए थे लेकिन ब्राह्मणवादी विचारधारा के अनुसार उनका स्तर केवल शूद्रों से ऊपर था और इस प्रकार वे निम्न जाति के थे। एक रोचक बात यह है कि पालि भाषा में 'वैश्य' षब्द का स्त्रीलिंग 'वेसी', 'वेसिया' या 'वेस्सी' है जिसका अनुवाद "एक निम्न जाति की औरत, वेश्या" दिया गया है।[115]

हालाँकि गौतम बुद्ध द्वारा जाति–व्यवस्था की प्रषंसा किए जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, लेकिन उनके कर्म के सिद्धांत को जाति–व्यवस्था का सबसे अधिक यौक्तिकीकरण माना जाता है। बौद्ध परम्परा जन्म तथा पुनर्जन्म के चक्र को व्यक्तिगत स्तर पर मानती है और एक चक्र की कल्पना कर लिए जाने के बाद, किसी का निम्न जाति में जन्म उसके पिछले जन्म के कर्मों का फल बताया जाता था और निर्धारित दायित्व को पूरा करने पर उसे अगले जन्म में ऊँची जाति का आष्वासन दिया जाता था। इसके अतिरिक्त, हमें ऐसा कथन भी कहीं नहीं मिलता जो जाति के रूप में समाज के विभाजन के विरुद्ध हो। रोमिला थापर का इस सम्बन्ध में कहना है कि गौतम बुद्ध ने जाति को सामाजिक–आर्थिक संरचना के रूप में स्वीकार कर के और उच्च जातियों में निहित शुद्धता की धारणा को

---

[114]वही. 146f.

[115]Vin.III.138, IV.278; D.I.193; A.III.226, 229; Sn.108; J.V.425; Thī.73; Vbh.247.

न मानकर, दो विभिन्न रूपों में देखा।[116] असत्यता निम्नतम जाति में पुनर्जन्म का कारण बनती है।[117] संघ में एक भिक्षु द्वारा नया नाम धारण किया जाना न केवल संघ में उसके नए जन्म का बल्कि उस***के*** जाति और सामाजिक प्रतिष्ठा से अलग होने का संकेत भी था। लेकिन दुर्भाग्यवश उच्च जाति में जन्म होने से मिलनेवाले लाभ एवं ***प्रतिष्ठा के महत्त्व को संघ के सदस्यों के मस्तिष्क से नहीं मिटाया जा सका।*** *तित्तिर जातक*[118] में बताई गई एक घटना से संकेत मिलता है कि षायद उच्च जातियों की संघ में भरमार थी। एक बार जब गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं से प्रश्न किया कि "कौन श्रे***ष्ठ आवास, श्रेष्ठ भोजन और श्रेष्ठ पानी का अधिकारी है***?" ***उन्हें कुछ भिक्षुओं से उत्तर मिला– "वह जो यहाँ आने से पहले क्षत्रिय था"***[119] ***और कुछ अन्य से– "वह जो ब्राह्मण या गहपति था।"***[120] इस प्रकार, अधिकतर भिक्षुओं के मस्तिष्क में जाति की श्रेष्ठता का ***महत्त्व था।***[121] ऐसा प्रतीत होता है कि गौतम बुद्ध इसके बारे में काफी सावधान थे कि वे स्थापित व्यवस्था और इसके संरक्षकों को नाराज़ न करें। उदाहरणस्वरूप– उन्होंने उन सभी लोगों को संघ में प्रवेश की अनुमति नहीं दी जो राजकीय

---

[116]The Buddha made a distinction between the caste as the frame of the socioeconomic structure, which he accepted, and the notion of the relative purity inherent in the upper castes, which he rejected. *(*R. Thapar, *Ancient Indian Social History: Some Interpretations*, New Delhi: Sangam Publishers, 1978: 51-52*).*

[117]नीचकुलेसु निब्बत्तिदायिका *(*J.I.106*).*

[118]J.I.217.

[119]खत्तिय कुला पब्बजितो।

[120]ब्राह्मणकुला गहपतिकुला पब्बजितो।

[121]R. Fick, *Social Organization in North-East India in Buddha's Time*, tr. S.K. Mitra, Calcutta: University of Calcutta, 1920: 33.

कर्मचारी,[122] कर्जदार,[123] या दास[124] थे या फिर जिन्होंने अपने माता–पिता की आज्ञा प्राप्त नहीं की ***थी।***[125] ***जब कोई व्यक्ति संघ में प्रवेश के लिए निवेदन करता था तब बौद्ध संघ द्वारा जो प्रश्न पूछे जाते थे, उनमें से कुछ इस प्रकार के होते थे***[126]–

"क्या तुम स्वतंत्र व्यक्ति हो?"
"क्या तुम पर किसी का कर्ज नहीं है?"
"क्या तुम राजकीय सेवा में नहीं हो?"
"क्या तुमने माता–पिता से आज्ञा प्राप्त की है?"

यदि उपर्युक्त प्रश्नों में किसी एक का भी उत्तर 'नहीं' होता, तो उस व्यक्ति को बौद्ध संघ में प्रवेश से वंचित कर दिया जाता था।

'ब्राह्मण' शब्द के अस्पष्ट प्रयोग से भी कुछ नकारात्मक परिणाम निकले। इसमें कोई आशंका नहीं है कि गौतम बुद्ध ब्राह्मणों के जातीय मिथ्याभिमानों के कड़े आलोचक थे। लेकिन पालि साहित्य में 'ब्राह्मण' शब्द को अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखते हुए ऐसे व्यक्ति को उच्च नैतिक आचरण तथा अन्तर्दृष्टिवाला बताया गया है। इस शब्द के मानोपाधि के रूप में चयन कर लिए जाने के बाद इसे दिया जानेवाला सम्मान और भी बढ़ गया होगा। वास्तव में, रायस डेविड्ज़ का कहना है कि "जिन उपायों का प्रयोग उन्होंने ***(***बौद्धों***)*** अपने मुक्ति के सिद्धान्त को षक्ति प्रदान करने के लिए किया था वे

[122] Vin.i.72-74.

[123] Vin.i.75-76.

[124] Vin.i.76.

[125] Vin.i.84; iii.12ff.

[126] SBE.xiii.230.

ही उनके विरुद्ध प्रयोग किए जानेवाला हथियार बन गए।"[127] शायद ऐसी अनेकार्थकताओं के कारण कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहते हैं कि "बौद्ध संघ में, वास्तव में, ऐसा कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं था जो सम्पूर्ण जाति–व्यवस्था का विनाष कर सकता"[128] और कि बुद्ध निम्न वर्गों के आन्दोलन के समर्थक नहीं थे, इस तथ्य के बावजूद कि संघ में प्रवेष प्राप्त करनेवाले सभी पुरुषों को बौद्ध–सिद्धान्त समान अधिकार की स्वीकृति ***देता था।[129] दूसरे शब्दों में, ऐसा आरोप लगाया गया है कि प्राचीन बौद्ध धर्म में (जन्म, बुद्धि तथा धन नामक तीनों प्रकारों के) अभिजात्य–वर्ग की ओर विशेष झुकाव आद्य काल की विरासत के रूप में अटका हुआ था।[130] मैक्स वेबर ने भी ऐसे विचार से सहमति व्यक्त की और कहा कि चूँकि संघ के सदस्य अधिकतर कुलीन, शहरी धनाढ्य और ब्राह्मण परिवारों, जो 'सभ्य जनसाधारण' के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि थे, से लिए गए थे, अतः बौद्ध धर्म का किसी सामाजिक आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं था और कुल मिलाकर यह स्पष्टतया विशेषाधिकृत स्तर की उपज था, न***

[127] "the very means they (Buddhists) adopted to lend weight to their doctrine of emancipation became a weapon to be used against them." (DB.I.139-141).

[128] "[T]here was in fact nothing substantial in the Buddhist clerical order which could ruin the entire caste system," (E. Senart, *Caste in India*, London: 1950: 305).

[129] The Buddha was not a champion of the cause of lower classes, despite the fact that the Buddhist theory acknowledged the equal right of all males to be received in the *Saṃgha* (*Ibid*.153f).

[130] A marked leaning to aristocracy (of all the three varieties, birth, brain and bullion) lingered in ancient Buddhism as an inheritance from the past. (H. Oldenberg, *The Buddha- His Life, His Doctrines, His Order*, reprint, Delhi, 1971: 155-59 (originally published 1927).

कि अप्राधिकृत स्तर की।[131] *इसी प्रकार रिचर्ड फिक्क ने दर्शाया कि बौद्ध धर्म द्वारा जाति के विकास को किसी भी तरह से रोका नहीं गया, यहाँ तक कि शिथिल भी नहीं किया गया क्योंकि इसके सिद्धांत का लक्ष्य सामाजिक परिस्थितियों का रूपान्तरण करना नहीं था जिन्हें अपरिवर्तनीय माना जाने लगा था।*[132] सी॰ ऐ***लियट ने*** भी बुद्ध को समाज सुधारक के रूप में नहीं लिया और इंगित किया कि चाहे बुद्ध ने ब्राह्मणों के अभिमान ***को नकारा, उन्होंने कभी भी जाति के विरुद्ध प्रवचन नहीं दिया क्योंकि उस समय यह केवल अल्पविकसित रूप में विद्यमान थी।***[133] ***सी॰ बूगले ने भी*** तर्क प्रस्तुत किया कि हालाँकि इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि "बौद्ध समुदाय ने ब्राह्मणों के ग्राहक–गण को तलोच्छेदित करने के लिए कार्य किया और इससे पारस्परिक हितों के संघर्ष को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है," बौद्ध "नयी योजनाओं के अनुसार हिन्दू समाज के भवन का पुनर्निर्माण करने *(*से मीलों दूर थे;*)* यदि उन्होंने छत को बदलने का बीड़ा उठाया, तो उन्होंने नींव को परिवर्तित करने की कभी सोची भी

---

[131]Buddhism had no tie with any social movement and as a whole was the product not of the underprivileged but of a very clearly privileged strata. (M. Weber, *The Religion of India*, ed and tr H.H. Garth & D. Martindale, Glencoe & Illinois: The Free Press: 1958: 225-27).

[132]The development of caste was in no way broken or even retarded by Buddhism because its doctrine did not aim at a transformation of social conditions and it was taken for granted that they were unchangeable (R. Fick, *The Social Organization of North-East India in Buddha's Time,* Calcutta: 1920: 335).

[133]C. Eliot, *Hinduism and Buddhism*, vol. I, London: 1954: xxii.

नहीं।"[134] रामशरण षर्मा भी ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं और मानते हैं कि यदा–कदा ही बौद्ध ग्रन्थ ***निम्न वर्गों के लिए अप्रत्यक्ष सहानुभूति व्यक्त करते हैं***[135] ***और प्रारम्भिक बौद्ध धर्म उच्च जातियों के विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकता था क्योंकि वे उसके संरक्षकों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थीं।***[136]

संघ में निम्न जातियों, विशेषकर शूद्रों, का काफी कम प्रतिनिधित्व होना आश्चर्यजनक है। *थेरगाथा* ***और*** *थेरीगाथा* ***में उल्लिखित विभिन्न थेरों और थेरियों पर उपलब्ध आँकड़ों का विश्लेषण दर्शाता है कि उनमें लगभग 91 प्रतिशत*** *द्विज* ***अर्थात् ऊपर के तीन वर्णों से आए थे जबकि केवल 9 प्रतिशत शूद्र वर्ग से।***[137] ***पालि*** *त्रिपिटक* ***में यह स्पष्ट देखने को मिलता है कि बड़ी संख्या*** में गौतम बुद्ध के ***ब्राह्मण अनुयायियों ने ब्राह्मणीयता के जन्मगत आधार को सैद्धान्तिक तौर पर तो ठुकरा दिया था लेकिन व्यवहार में अधिकतर इसका पालन***

---

[134] "the Buddhist community worked to undermine the brāhmaṇas' clientele and the conflict of interests is undeniable… the Buddhists were far from reconstructing the edifice of Hindu society according to new plans; if they worked at replacing the roof, they never gave a thought to changing the foundations." (C. Bouglè, *Essays on the Caste System*, Cambridge: 1977: 73).

[135] Only occasionally the Buddhist texts show some lurking sympathy for the lower orders (R.S. Sharma, "Material Background of the Origin of Buddhism," M. Sen & M.B. Rao (eds), *Das Capital Centenary Volume: A Symposium*, Delhi: People's Publishing House, 1968: 94).

[136] Buddhism could not have crusaded against the upper castes, as they constituted the interest of its patrons. (R.S. Sharma, *Op. Cit.*, 1968: 58-66).

[137] B.G. Gokhale, "The Early Buddhist Ēlite," *JIH*, XLIII, Pt. II, 1965: 395.

करते थे। यह देखनेवाली बात है कि लगभग 40 प्रतिशत वरिष्ठ भिक्षु और भिक्षुणियाँ ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध रखते थे।[138] *यह संकेत दिया गया है कि गौतम बुद्ध ने तत्कालीन समाज के आधार पर वर्ण–जातीय शब्दों का इस्तेमाल किया और अन्तर केवल यह था कि उन्होंने क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ऊँचा दर्जा दिया। उन्होंने ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों की शुद्धि के दावों तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की खिल्ली उड़ाई और कहा कि व्यक्ति की श्रेष्ठता उसके व्यक्तिगत शील पर निर्भर करती है,* न कि उसके परिवार, वर्ग ***या सामाजिक उत्पत्ति पर। ऐसा उन्होंने इसलिए कहा क्योंकि यही नए नगरीय सामाजिक वर्गों की माँग थी जो परम्परागत ब्राह्मणीय वैदिक कर्मकांडों की अपेक्षा बौद्ध धर्म के अधिक निकट थे।***[139]

पालि *विनय पिटक* ***तथा*** *सुत्त पिटक* ***में 2426 पुरुषों और महिलाओं के उल्लेख हैं, जिनमें 1371 की जाति के बारे में पता लगाया जा सकता है। इन सबकी जातियों के आधार पर तैयार की गई निम्नलिखित तालिका बौद्ध संघ के गठन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती है:***[140]

जाति	आवृति	%
क्षत्रिय	***706***	51.50
ब्राह्मण	***400***	29.18
वैष्या	***155***	08.02
षूद्र और अछूत	***110***	11.30

तालिका 1– विभिन्न व्यक्तियों का जातीय आधार

[138]वही, 395.

[139]वही।

[140]यह तालिका K.T.S. Sarao, *Op. Cit.*1989: परिषिष्ट:5a और 5b के आधार पर तैयार की गई है।

उपर्युक्त ***प्रवृत्ति किसी एक ग्रन्थ से सम्बन्धित नहीं है। यह यहाँ पर उपयोग किए गए सभी ग्रन्थों पर लागू होता है। निम्नलिखित तालिका बौद्ध धर्म के उच्च जातीय सम्बन्धों को विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाता है:***[141]

ग्रन्थ	क्षत्रिय	%	ब्राह्मण	%	वैश्य	%	निम्न जाति	%
विनय	***38***	38.24	***43***	42.16	***11***	10.78	***09***	08.82
अंगुत्तर	***42***	30.88	***63***	46.32	***24***	17.65	***07***	05.15
दीघ	***33***	38.82	***40***	47.05	***03***	10.59	***09***	10.59
मज्झिम	***33***	27.05	***63***	51.64	***06***	04.92	***14***	11.48
संयुक्त	***37***	31.09	***61***	51.26	***09***	09.56	***12***	10.08

तालिका 2– विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार विभिन्न पुरुषों का जातीय आधार

निस्संदेह, प्रारंम्भिक बौद्ध धर्म ने मुख्य तौर पर नगरीय पुरुषों और महिलाओं को आकर्षित किया। निकायों में उद्धृत अधिकांश धर्मोपदेश श्रावस्ती, राजगृह और कोषाम्बी जैसे बड़े नगरों में दिए गए थे। 547 बोधिसत्त्वों में से 315 का जन्म मनुष्य के रूप में हुआ था, जिनमें से 223 (84.47%) नगरीय केन्द्रों में पैदा हुए थे तथा उनमें से अधिकांश का जन्म राजाओं, उनके मंत्रियों या बड़े व्यापारियों के परिवारों में हुआ था। जेतवन, जहाँ गौतम बुद्ध ने अपने अधिकांश वर्षावास व्यतीत किए थे, की कीमत उसकी सम्पूर्ण सतह पर सोने के सिक्के बिछाने के बराबर थी। थेरगाथा और थेरीगाथा में उद्धृत भिक्षुओं ***और भिक्षुणियों में से 71% नगरीय क्षेत्रों से आए थे और लगभग 86% श्रावस्ती, राजगृह, कपिलवस्तु और वैशाली जैसे महानगरों से आए। अन्य नगरों में, 6 का सम्बन्ध साकेत से, प्रत्येक 5 का कौशाम्बी, वाराणसी और***

---

[141]क्योंकि K.T.S. Sarao, *Op. Cit.*1989: परिषिष्ट 5a और 5b सभी मानवों *(*बुद्ध के विरोधियों समेत*)* का उल्लेख करते हैं तथा इस प्रकार की अवस्थिति दूसरे असनातनी सम्प्रदायों के बारे में भी उपलब्ध होती है।

उज्जैन से, 4 का चम्पा से, 3 का पाटलिपुत्र से, 2 का भरुकच्छ से और 1 का सुप्पारक से था।[142]

बौद्ध धर्म स्पष्टतः उल्लेख करता है कि बुद्धों व बोधिसत्त्वों का जन्म केवल क्षत्रिय या ब्राह्मण परिवारों में हो सकता है, अन्य किसी जाति में नहीं।[143] ***ऐसे ही दास के गर्भाशय से जन्म लेनेवाला व्यक्ति कभी भी बोधिसत्त्व नहीं हो सकता।***[144]

देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने संतुलित विचार प्रकट करते हुए कहा है कि हालाँकि यह सत्य है कि बौद्ध धर्म को अधिपतियों, व्यापारियों और समकालीन कुलीन जातियों से सहयोग प्राप्त था लेकिन इसे इसी रूप में देखना उचित नहीं होगा। उनके अनुसार कई कारणों से बौद्ध धर्म का "भारतीय इतिहास में सबसे बड़ा सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन"[145] बनना नियत था। उनका विश्वास था कि जातीय व्यवस्था के अन्यायपूर्ण व्यवहार के प्रति बुद्ध का रुख और ब्राह्मणों के धार्मिक अनुष्ठानों पर आक्रमण, लोगों को आकर्षित करने के महत्त्वपूर्ण कारण थे। लेकिन चट्टोपाध्याय यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि बुद्ध ने संघ को जनजातीय मान्यताओं के आधार पर प्रतिरोपण करके स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की एक मरीचिका पैदा की, जबकि वास्तविकता यह थी कि ***इन मान्यताओं को संघ के बाहर की दुनिया में कुचला जा रहा था।***[146]

---

[142]B.G. Gokhale, *Op. Cit.*461.

[143]देखें, DPPN.II.324.

[144]देखें, DPPN.II.323; SnA.I.550f.

[145]"biggest socio-religious movement in Indian history."

[146]The Buddha created an illusion of liberty, equality, and fraternity by modelling his Saṃgha on the tribal values, whereas in reality these values were being trampled upon in the world outside the Saṃgha. (D.P. Chattopadhyaya, *Lokāyata: A Study in Ancient*

यद्यपि प्रभावशाली जातीय व्यवस्था ने वास्तव में बौद्ध विचारधारा को भी प्रभावित किया था, फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बुद्ध ने निम्नों में भी निम्नतम के लिए अपने संघ के द्वार खोल दिए ताकि वे निर्वाण का सुख प्राप्त कर सकें।[147] *गौतम बुद्ध ने शिक्षा प्रदान करने में किसी प्रकार का भी भेदभाव नहीं किया।*[148] *जैसा कि टी॰डब्ल्यू॰ रायस डेविड्ज़ ने इंगित किया है जहाँ तक किसी व्यक्ति के संघ (समाज का* एकमात्र अंग जिस पर बुद्ध का संपूर्ण नियंत्रण था) में प्रवेश की बात थी, जन्म, पेशा, सामाजिक स्तर के हानि–लाभ से उसका कोई लेना–देना नहीं था। अपने ***विचार के सर्मथन में उन्होंने*** *विनयाचारिय* ***उपालि (नाई), सुनीत (पुक्कुस), साति (मछुआरा), सुभा (लोहार की बेटी) तथा पुण्णा और पुण्णिका (युवा दासियाँ) का उदाहरण दिया है। लेकिन श्रीमती रायस डेविड्ज़ कहती हैं कि संघ के बाहर बुद्ध ने लोकविचार को निरन्तर बुद्धिसम्पन्न विचारों के माध्यम से प्रस्तुत करके प्रभावित करने का प्रयास किया। उन्होंने आगे*** *सुत्त–निपात* ***के***

Indian Materialism, N. Delhi: People's Publishing House: 1978: 466-67).

[147]खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कुसा
सब्बे व सोरता दंता सब्बे व परिनिब्बुता *(*J.IV.303*)*.

[148]संघ में निम्न वर्गों के सदस्यों ने असल में प्रवेष पाया, इसका संकेत कई उदाहरणों से मिलता है। चण्डालपुत्र मातंगबाहर के बारे में कहा जाता है कि उसने असीम सुख प्राप्त किया जिसे अनेक क्षत्रिय और ब्राह्मण भी नहीं पा सके थे *(*Sn.vv. 137 असीम 138*)*। एक भिक्षु का वर्णन आता है जो पहले बाज़षिक्षक था *(*DPPN.I.174.*)* तथा दो चण्डाल जिन्होंने संन्यास धारण किया *(*J.IV.390-401*)*। पालि त्रिपिटक में लगभग एक दर्जन षूद्रों एवं चण्डालों का उल्लेख है जिन्होंने संघ में ऊँचे पद प्राप्त किए *(*K.T.S. Sarao, *Op Cit.*: Appendix.4*)*।

आमगन्ध सुत्त का उदाहरण दिया है जिसमें बुद्ध ने बताया है कि इस या उस व्यक्ति के द्वारा बनाया या दिया गया खाना, इसके या उसके द्वारा खाने से कोई दोष नहीं होता है बल्कि बुरे कर्म, बुरी बात और बुरे विचार से दोष होता है।[149] असल में, रायस डेविड्ज़ का विचार था कि यदि बुद्ध के विचारों को सफलता प्राप्त हो जाती, तब सामाजिक वर्गीकरण और भिन्नता अलग प्रकार से विकसित होते और जाति–व्यवस्था कभी भी निर्मित न होती।[150]

बुद्ध ने तर्क प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार राजा या दरबारी को सारा राजस्व केवल अपने ही लिए नहीं रखना चाहिए, उसी तरह ब्राह्मणों और श्रमणों को ज्ञान पर एकाधिकार नहीं जमाना चाहिए। बौद्ध विचार के तहत किसी भी जाति का कोई भी व्यक्ति शिक्षक बन सकता है और शिक्षक चाहे शूद्र, चण्डाल या पुक्कुस हो, हमेशा सम्मान का हक़दार होता है। बौद्ध धर्म के ऐसे प्रतिनिधिक रुख को एक *जातक* कहानी में व्यक्त करते हुए बताया गया है कि एक ब्राह्मण तन्त्र से हाथ धो बैठा क्योंकि उसने बदनामी से बचने के लिए अपने चण्डाल शिक्षक का आभार नहीं माना।[151] असल में, कहा जाता है कि जब कुछ शाक्य युवक और उनका नौकर व शूद्र उपालि बुद्ध के पास इक्ट्ठे होकर दीक्षा लेने के लिए पहुँचे तो बुद्धने उपालि को दीक्षा पहले दी ताकि शाक्यों का जन्म व जाति–नुमा घमण्ड दूर किया जा सके।[152] कोई

---

[149] DB.I.104.

[150] DB.I.107.

[151] J.IV.200ff.

[152] Vin.II.182; Bu.I.61.

भी बौद्ध भिक्षु या भिक्षुणी भिक्षायाचना के समय लोगों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता था तथा किसी भी गृहस्थ के यहाँ भोजन की याचना कर सकता था या ***आमंत्रित किए जाने पर उसके घर पर भोजन ग्रहण कर सकता था।***[153] ***इसलिए यह इंकार नहीं किया जा सकता कि बौद्ध धर्म ने भारत में सामाजिक*** संगठन पर स्थायी प्रभाव छोड़ा है।

---

[153] Vin.III.184-85; IV.80, 177.

6

बौद्ध धर्म का पतन

बौद्ध धर्म के पतन की समस्या प्राचीन भारतीय इतिहास में सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक है। 'पतन' शब्द का प्रयोग भारतीय बौद्ध धर्म में न केवल विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में किया गया है बल्कि विभिन्न परम्पराओं द्वारा पतन की विभिन्न अवधारणाएँ व उनके कारण भी प्रस्तुत किए गए हैं।[1] विनय पिटक में ब्रह्मचर्य के पतन व सधर्म के प्रत्याषित विध्वंस के बारे में बताया गया है[2] और दीघ निकाय में आसन्न पतन की बात उ˜व व ह्रास के एक विषाल–कालीन व विस्तृत ब्रह्मांडीय चक्र के संदर्भ में की गई है।[3] बौद्ध धर्म के पतन को लेकर आधुनिक विद्वानों में इतना मतभेद है कि यदि एक ओर कुछ विद्वानों ने पतन के आरम्भ को बुद्ध के ही काल में रखा है[4] तो वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य विद्वानों के विचार में पतन के आरम्भ को सातवीं शताब्दी से पहले नहीं रखा जा सकता।[5] जहाँ कुछ विद्वानों ने बौद्ध धर्म के पतन को "केवल वार्द्धक्य या पूर्ण परिक्लान्ति"[6] के

---

[1]देखें, Jan Nattier, *Once Upon a Future Time: Studies in a Buddhist Prophecy of Decline*, Berkeley: Asian Humanities Press, 1991; and D.W. Chappell, "Early Forebodings of the Death of Buddhism," *Numen*, XXVII, 1980, Fasc.1: 122-154.

[2]Cv.X.1.

[3]चक्कवत्ती–सीहनाद सुत्तंत तथा अगxञ सुत्तंत।

[4]L.M. Joshi, *Studies in the Buddhist Culture of India*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1968: 302.

[5]देखें, P.C. Bagchi, "Decline of Buddhism and its Causes," Asutosh Mukerjee Silver Jubilee Volumes. III: 412.; R.C. Mitra, *The Decline of Buddhism in India*, Calcutta: Vishva Bharati Studies: 1954: 2.

[6]"just old age or sheer exhaustion" (E. Conze, *A Short History of Buddhism*, Oxford: 1960: 86).

संदर्भ में व्यक्त किया है, वहीं दूसरे विद्वान यह अनुभव करते हैं कि पतन के पीछे उन विभिन्न कारणों की विविधता थी जो "निस्सन्देह बड़े लम्बे समय से कार्य कर रहे होंगे।"[7] तथापि, इस बात पर आम सहमति है कि पतन के आरम्भ का समय जो भी रहा हो, 12वीं शताब्दी के अन्त के करीब यह बड़ी तीव्रता और व्यापक रूप से घटित हुआ।

बौद्धों के व्याभिचार और नैतिक पतन को कुछ विद्वानों ने बौद्ध धर्म के पतन का सबसे प्रमुख कारण माना है।[8] प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों में इस तथ्य की जानकारी मिलती है कि संघ के अन्दर लापरवाही व दुष्टता की प्रवृत्ति इस सीमा तक पहुँच गई थी कि बड़ी संख्या में भिक्षु व्यक्तिगत या सामूहिक धन एकत्र करने के साथ–साथ अनेक दूसरे अविवेकपूर्ण कार्य करने लगे थे। जातकों में भी यह बात स्वीकार की गई है कि कुछ लोग संघ में इसलिए प्रविष्ट होने लगे थे क्योंकि संघ के अन्दर का जीवन बाहर की अपेक्षा अधिक आसान था। एक युवक एक जातक कथा में कहता है "दिन–रात मैं अपने हाथों से सभी तरह के कार्य करता हूँ लेकिन मैंने कभी इतना सुस्वादु भोजन नहीं चखा। मुझे स्वयं भिक्षु ही बन जाना चाहिए।"[9] कुछ विख्यात मठों ने तो अपनी मुद्राएँ व मोहरें भी जारी करनी आरम्भ कर दी थीं।[10] आवासीय भिक्षुओं के भरण–पोषण के लिए मठों ने जमीन, गाँव, चराहगाह, जानवरों इत्यादि को भी

---

[7]Multiplicity of different causes that "must have been in operation for a pretty long time." (P.V. Kane, *History of Dharmaśāstra,* Vol.V, Part 2, Poona, 1930-62: 1003).

[8]K.W. Morgan, *The Path of the Buddha*, New York, 1956: 48; R.C.Mitra, *Op. Cit*. 2.

[9]J.I.311.

[10]P. Niyogi, "Organisation of Buddhist Monasteries in Ancient Bengal and Bihar," *Journal of Indian History*, LI (3): 1973: 531-557. "Endowments in Favour of Early Buddhist Monasteries in Bengal and Bihar," *Journal of Ancient Indian History*, Vol. VI, Parts 1-2, 1972-73, Calcutta, 1973: 160-165.

रखना शुरू कर दिया था।[11] चीनी यात्री फाहियान, इत्सिंग और ह्युनत्सांग ने भी मठों के सामन्ती चरित्र की बात की है जो काफी बड़ी मात्रा में धन–धान्य और सम्पत्ति रखते थे।[12] बड़े मठों ने विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों के द्वारा न केवल आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली थी बल्कि अपने–अपने क्षेत्रों में उन्होंने अपनी शक्ति और प्रभाव भी स्थापित कर लिए थे।[13] भिक्षुओं के वेश्यागमन, शराब पीने, बिचौलियागिरी करने, चोरी करने, लूटमार करने और खेती करने के भी उदाहरण मिलते हैं।[14] एक ग्रन्थ में यह अफसोस व्यक्त किया गया है कि "भिक्षु संन्यासी के जीवन को अपने लाभ तथा लालन–पालन के लिए अपनाएंगे। वे पवित्र ग्रन्थों के पठन–पाठन में निष्ठावान नहीं होंगे और उपासना तथा चिन्तन–मनन के लिए एकान्त के इच्छुक नहीं होंगे। दिन में वे लोकधर्म से सम्बन्धित बातों पर विचार के लिए एकत्रित होंगे तथा उत्तेजित होकर भ्रमवश कोलाहल करेंगे, रात में थकान और आलस्य के कारण वे देर तक सोएँगे। वे वितर्क और उपनिध्यान से रहित होंगे। चूँकि वे बुद्ध की मूल शिक्षाओं को नकारेंगे इसलिए वे नैतिक आचरण का पालन नहीं करेंगे।"[15] लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि

---

[11] P. Niyogi, "Organisation of Buddhist Monasteries in ancient Bengal and Bihar," *Journal of Indian History*, LI (3): 1973: 535.

[12] J. Legge, *The Travels of Fa-hien*, 43; Takakusu (tr), *A Record of the Buddhist Regions,* 193; Beal, *Life of Hieun-tsiang*, 112-13.

[13] P. Niyogi, "Endowments in Favour of Early Buddhist Monasteries in Bengal and Bihar," *Journal of Ancient Indian History*, Vol. VI, Parts 1-2, 1972-73, Calcutta, 1973: 164.

[14] देखें, L.M. Joshi, *Op. Cit*: 305ff.

[15] Ē. Lamotte, *History of Indian Buddhism: From the Origins to the □aka Era*, tr.Sara Webb-Boin, Louvain-la-Neuve: Insitut Orientaliste, 1988: 199 पर विभाष से उद्धृत किया गया। (लामोत्त का यह ग्रंथ पहली बार *Histoire du bouddhisme indien: Des origenes à l'ère □aka,* Louvain: Bibliothêque du Muséon, vol. 43, 1958 के रूप *में*

अधिकांश धार्मिक समुदाय ह्रासोन्मुखता की अवस्थाओं से गुजरते हैं और जो आन्तरिक सुधार का मार्ग अपना लेते हैं वे ऐसी परिस्थितियों में से सकुषल निकल आते हैं। दूसरे षब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि ह्रासोन्मुखता अपने–आप में घातक सिद्ध हो। बौद्धों की सारगर्भित और उद्देश्यपरक सुधार न कर पाने की अक्षमता के कारण कुछ और ही रहे होंगे।[16]

कुछ विद्वान तंत्रवाद को पतन के लिए उत्तरदायी मानते हैं। एक समय ऐसा आ गया था जब भिक्षु अपने शिक्षकों से अपनी संगिनियों के साथ मिलने जाते थे। तांत्रिक बौद्ध धर्म के 84 सिद्ध या तो विवाहित थे या फिर योगिनियाँ उनकी सहयोगी थीं। नैतिक अराजकता को बढ़ावा देने में “सबसे प्रमुख स्थान वज्रयान की कुरीतियों को दिया गया है।”[17] लेकिन बौद्ध धर्म का पतन तंत्रवाद के कारण हुआ प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिए, अलेक्स वेमैन के अनुसार “निष्चय ही, इस तथ्य के अतिरिक्त कि तंत्र में विभिन्न वर्ग होते हैं तथा अधिक निंदित अभ्यास या नियम तंत्र के क्षेत्र के भीतर सर्वव्यापी नहीं हैं, निर्णय में इस असाधारण व अपरिहार्य तथ्य का ध्यान नहीं रखा गया है क्योंकि तंत्र अपने हिन्दू रूप में बड़ी लोकप्रियता पा चुका है और स्पष्टतया किसी द्रष्टव्य मात्रा में उसका हिन्दू धर्म के पतन में योगदान नहीं है। इस प्रकार, बिना इस तथ्य को नकारते हुए कि कभी–कभी तंत्र का भ्रष्ट रूप में अनुसरण किया जाता था, भारत में बौद्ध धर्म के पतन के कारणों को किसी दूसरी जगह ही ढूँढ़ना चाहिए।”[18]

छपा था)।

[16]P.S. Jaini, “The Disappearance of Buddhism and the Survival of Jainism: A Study in Contrast,” in A.K. Narain (ed), *Studies in History of Buddhism*, Delhi: 1980: 81ff.

[17]वही.311.

[18]“Quite apart from the fact that there are different classes of Tantra, and that the more reprehended practices or tenets are not ubiquitous in the range of Tantra, the judgement takes no account of the striking and inescapable fact that the Tantra in its Hindu form has enjoyed great popularity, and apparently has not contributed to the demise of Hinduism in any observable amount… Accordingly, while

कभी–कभी ब्राह्मणों के वैर–भाव को बौद्ध धर्म के पतन का उत्तरदायी माना जाता है।[19] यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों ने बौद्धों को सामान्यतः घृणा की दृष्टि से देखा। हालाँकि निश्चित तौर पर इसके उदाहरण हैं कि बौद्ध भिक्षुओं पर अत्याचार हुए या वे उपहास के पात्र बने, या कभी–कभी वे मार भी डाले गए, लेकिन यह वैर किसी दूसरे प्रकार का था। यदि बुद्ध से ब्राह्मण समाज ने घृणा की होती तो उसी समाज ने उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में न स्वीकारा होता। द्वेष मुख्यतौर पर मठवासीय आन्दोलन व मठों की आपेक्षिक सम्पन्नता की ओर निर्देषित प्रतीत होता है। कुछ विद्वान राजकीय संरक्षण के अभाव और कुछ ब्राह्मण राजाओं द्वारा बौद्ध धर्म पर किए गए अत्याचारों को भारत में बौद्ध धर्म के पतन का कारण मानते हैं। हालाँकि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बौद्ध धर्म के आरम्भ के दिनों में राजकीय संरक्षण एक महत्त्वपूर्ण घटक था, लेकिन पतन में इसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती। बौद्ध धर्म के ही समय में जैन धर्म का तथा बाद में हिन्दू धर्म का विद्यमान रहना, इस परिकल्पना को अस्वीकार करता है। उसी प्रकार, अत्याचार का तर्क भी मजबूत प्रतीत नहीं होता। हूणों और गौड़ राजाओं के अत्याचार कुछ मठों की बर्बादी और कुछ भिक्षुओं की मृत्यु का कारण तो रहे होंगे, लेकिन उनका पूरे आन्दोलन पर कड़ा प्रहार नहीं हो सकता था।[20] बुद्ध को व्यापक परिवार का एक अंष माना जाता था। बहुत ही कम लोग उनसे घृणा करते थे, अपितु अधिकतर लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे।

कुछ विद्वान संघ के अन्दर के भेद और विवादों को पतन का कारण मानते हैं। 7वीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म एक विभाजित घर जैसा बन चुका था। संघ–भेद को स्वयं बुद्ध ने पाँच मुख्य पापों में

---

not denying that the Tantra was sometime followed in a degenerate form, one must look elsewhere for the reasons of Buddhism's decline in India." (A. Wayman, "Observations on the History and Influence of the Buddhist Tantra in India and Tibet," in A.K. Narain (ed), *Studies in History of Buddhism*, Delhi: 1980: 360-361).

[19]T.W. Rhys Davids, "Persecution of Buddhists in India," *Journal of the Pāli Text Society*, 1896: 87-92.

[20]देखें, P.V. Kane, *Op Cit*: 1010.

से एक माना था। बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में उसी तरह लड़ते थे जिस तरह वे बौद्धेतर लोगों से लड़ते थे। चार्ल्स ऐलियट यह अनुभव करते हैं कि "हीनयान की अपेक्षा महायान के भ्रष्टाचारों के कारण बौद्ध धर्म का भारत में पतन हुआ।"[21] लालमणि जोशी भी ऐलियट के मत से सहमत हैं और महायान को गुणात्मक पतन के लिए उत्तरदायी मानते हैं।[22] लेकिन सारे विद्वान सम्प्रदायगत प्रतिस्पर्धा को आन्तरिक दुर्बलता का प्रतीक नहीं मानते। उदाहरण के लिए, पद्मनाभन जैनी अनुभव करते हैं कि "जब हम एक अकेन्द्रीकृत आन्दोलन, जो कि बौद्ध धर्म था, के बारे में बात करते हैं, तो बहुत सारे सम्प्रदायों के उदय को बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति के प्रतीक के रूप में लेना चाहिए। उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बौद्ध धर्म की दलबंदी उसके धर्म ग्रन्थों की व्याख्या तक ही सीमित थी; सभी सम्प्रदायों के सदस्यों में त्रिपिटक के मूल स्वरूप को लेकर लगभग सहमति थी, उनकी आचरण–संहिता लगभग साझी थी और वे एक–दूसरे की बिरादरी में आसानी से घूमते–फिरते थे।... इसलिए, औचित्य से ऐसी फूट को भारत में बौद्ध धर्म के पतन का मुख्य कारक नहीं कहा जा सकता।"[23]

कुछ विद्वान यह समझते हैं कि मुस्लिम आक्रमण बौद्ध धर्म के भारत की मुख्य भूमि से विलुप्त होने का मुख्य कारण थे। 1197 ई॰ में नालन्दा को तुर्कों ने लूटा था। कुछ समय बाद विक्रमशिला

---

[21] "it was to the corruptions of the Mahāyāna rather than that of Hīnayāna that the decay of Buddhism in India was due." (C. Eliot, *Hinduism and Buddhism*, II, London, 1954: 6).

[22] L.M. Joshi, *Op Cit*: 309.

[23] "when dealing with the kind of non-centralized movement that Buddhism comprised, the emergence of numerous sects should probably be taken as a sign of both intellectual and spiritual vigour. Even more important, Buddhist sectarianism was confined to *interpretation* of texts; members of all schools more or less accepted the validity of the basic Tipiṭaka, shared an almost identical code of conduct, and moved easily among each other's communities… such divisiveness cannot, therefore, reasonably be suggested as central to the downfall of Buddhism in India." (P.S. Jaini, *Op Cit*: 84).

का भी वही हश्र हुआ। बोधगया को भी तोड़ा–फोड़ा गया। नालन्दा को पुनः 1235 ई॰ में तबाह किया गया। बड़ी संख्या में भिक्षुओं की क्रूरता से हत्या कर दी गई थी। उनके धार्मिक ग्रन्थ भी उसी तरह नष्ट कर दिए गए थे। कुछ भिक्षुओं ने हिमालय के आन्तरिक भागों, नेपाल और तिब्बत में षरण लेकर अपनी जान बचाई। किस तरह नियमबद्ध तरीके से बौद्ध प्रतिष्ठानों को जमींदोज किया गया, इस का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण तिब्बत के भिक्षु, धर्मस्वामिन् के हृदयस्पर्षी वर्णन में मिलता है।[24] जब 1325 ई॰ में पुनः नालन्दा पर आक्रमण हुआ तो इसके 70 छात्र असहाय और बूढ़े आचार्य राहुलश्रीभद्र को छोड़कर भाग खड़े हुए। धर्मस्वामिन् ने इस बूढ़े भिक्षु को अपने कंधे पर रखकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया। बौद्ध संस्थानों को लूटकर जला डाला गया और मठीय बौद्ध धर्म को मिटा दिया गया। लेकिन इन आक्रमणों के प्रभाव पर जब एक गहरी नजर डाली जाए तो पता चलता है कि इन आक्रमणों का प्रभाव केवल एक सांघातिक झटके *(coup-de-grace)* के समान था। इन आक्रमणों ने तो बौद्ध धर्म को केवल उन पीड़ादायी स्थितियों से मुक्त किया था जिनमें वह पहले से ही ग्रस्त हो चुका था। वास्तव में, जब इस्लामी आक्रमण शुरू हुए, तब तक बौद्ध धर्म एक संकटापन्न स्थिति में पहुँच चुका था। यह कारण अपने आपमें इस बात से भी महत्त्वपूर्ण नहीं दिखाई पड़ता कि जैन धर्म भी इसी तरह की दुविधा से गुजरा लेकिन सफलतापूर्वक निकल गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म का पतन दो स्तरों पर हुआ– (1) नीचे से पतन– उपासकों के स्तर पर; और (2) ऊपर से पतन– मठों के स्तर पर। इन दो स्तरों पर पतन न केवल दो विभिन्न समयों में हुआ बल्कि यह विभिन्न कारणों का भी परिणाम था।

नीचे से पतन

[24] G. Roerich; *Biography of Dharmasvāmin: A Tibetan Monk Pilgrim*: 64-95.

जहाँ कुछ विद्वान बौद्ध धर्म को "सामाजिक असफलता"[25] मानते हैं, दूसरे इसे एक सामाजिक आन्दोलन भी नहीं मानते।[26] इस आरोप में कुछ सच्चाई प्रतीत होती है। ब्राह्मण पुजारियों द्वारा प्रस्तावित रीति–रिवाजों और अनुष्ठानों को बौद्ध उपासकों ने कभी नहीं त्यागा। यह रुझान प्रारंभिक समय से ही स्पष्ट था। बौद्ध शब्द अपने आपमें उन लोगों के बारे में बतलाता था जो गृहत्याग कर भिक्षु या भिक्षुणियाँ बन गए थे। हालाँकि एक बड़ी संख्या ऐसे उपासकों की थी जिन्होंने बौद्ध धर्म में संरक्षण लिया था, लेकिन एक संपूर्ण रूप में सामाजिक पद्धति या पूजा का ढंग इत्यादि ऐसे अलग व विषिष्ट रूप से वर्गीकृत नहीं थे जिससे कि बौद्ध उपासकों को अलग से एक धार्मिक समुदाय के रूप में चिह्नित किया जा सके। धार्मिक पहचान की आकांक्षा बौद्ध उपासकों में न के बराबर थी। इसलिए जब कोई व्यक्ति, उदाहरणार्थ एक ब्राह्मण, बुद्ध का उपासक बनता था तो इससे केवल यही संकेत मिलता था कि उसने बुद्ध के प्रति एक पुण्य–व्यक्ति के रूप में अपनी श्रद्धा व्यक्त की है।[27] यह कहीं नहीं कहा गया है कि ऐसे ब्राह्मणों ने अपनी पुरोहिती या ब्रह्मदेया जमीन को त्याग दिया हो। इससे पता चलता है कि इन ब्राह्मणों ने वैदिक शास्त्रों के प्रति अपनी श्रद्धा जारी रखी और अपने शिष्यों को भी इसके अनुरूप शिक्षित करना जारी रखा। सुनीध और वस्सकार के सम्बन्ध में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिला है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि उन्होंने स्वयं को उपासकों के रूप में प्रतिष्ठापित किया हो। यह भी कल्पना से परे है कि बौद्ध धर्म अपनाने से उनके परम्परागत विश्वासों व सामाजिक प्रतिष्ठा में किसी व्यापक ढंग से परिवर्तन आया।[28] उनके उपासक बनने का तातपर्य

---

[25] ***गोविन्दचंद्र पाण्डेय,*** *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,* ***लखनऊ,*** 1963: 491-492; D.K. Barua, "Buddhism and Lay worshipers," *Mahabodhi*, LXXIV, Nos. 3-4: 39-44.

[26] N. Dutt, *Buddha Jayanti Souvenir*, Calcutta: 1973: 97.

[27] B.G. Gokhale, "The Early Buddhist Ēlite," *JIH*, XLIII, Pt. II, 1965: 376.

[28] वही।

यह नहीं था कि उन्होंने अपने जातिगत अधिकारों को त्याग दिया था।

यहाँ पर यह याद रखना भी महत्त्वपूर्ण है कि बौद्ध धर्म ने अपने अनुयायियों को उनके पुराने विश्वासों व धार्मिक कार्यकलापों को किसी भी प्रकार से छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया था। ऐसे समझौतों में से, जिनके कई उदाहरण भारत में मिलते हैं, एक यह भी था कि हरेक व्यक्ति त्रिरत्न के अलावा अपने क्षेत्र के देवी–देवताओं की, अपनी जाति के देवता की या किसी अन्य देवता की पूजा करने के लिए स्वतंत्र था। इसलिए, इतिहास में ऐसे कई श्रेष्ठ उदाहरण मिलते हैं जहाँ बौद्ध लोग यक्षों, नागों तथा आत्माओं को पूजते रहे। उच्च जाति के लोग हमेशा वैदिक या ब्राह्मणीय देवताओं, जैसे इन्द्र, ब्रह्मा, मार आदि की पूजा करते रहे। न तो बौद्ध धर्म के आने से इन देवताओं के महत्त्व में कोई कमी हुई और न ही शाक्यमुनि ने ब्राह्मणों के देवताओं का कभी विरोध किया। उन्होंने स्वीकार किया कि "मनुष्यों द्वारा पूजित व सम्मानित देवतागण बदले में उन्हें पूजते और सम्मान देते हैं।"[29] उन्होंने विधर्मी रिवाजों को पूर्णतः तिरस्कृत करने से मना कर दिया– जीवित प्राणियों की बलि की उन्होंने निंदा की लेकिन शांतिपूर्ण चढ़ावा, जिसमें कोई हिंसा षामिल नहीं थी, उन्होंने प्रस्तावित किया।[30]

बुद्ध आत्मत्याग के सर्वोच्च आदर्श के प्रति वचन बद्ध थे। इसलिए वे लोग जिन्होंने पारिवारिक जीवन को संन्यास हेतु छोड़ दिया था उन्हें सबसे ऊँचे आदर का पात्र समझा जाता था, न कि उन लोगों को जो इस सांसारिकता में रहे तथा गृहस्थ का जीवन जीए। यह सच ही कहा गया है कि बौद्ध धर्म की तुलना में जनसाधारण जैनों जैसे दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों में भिक्षुओं के साथ ज्यादा निकटता से जुड़ा हुआ था। पुरोहित वर्ग तथा जन सामान्य के बीच की इस कड़ी के क्षीण होने के कारण ही बौद्ध धर्म जन सामान्य के स्तर पर भारत में लुप्त हो गया जबकि जैन धर्म बचा रहा।

---

[29]Vin.i.229; D.ii.88; Ud.89.

[30]A.ii.42f; S.i.76; Dh.v141; Sn.v249.

साँची और भरहुत के अभिलेखों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इन बौद्ध विहारों को उन लोगों से भी दान मिला जो बौद्ध उपासक नहीं थे। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि जनसाधारण के लिए ब्राह्मण धर्म से बौद्ध धर्म में धर्मान्तरण बुद्ध और संघ के प्रति श्रद्धा व संघ को दान तक ही सीमित था। इस तरह के धर्मान्तरण के द्वारा एक अलग व विषेष धार्मिक या सामाजिक समुदाय की स्थापना नहीं की गई। बौद्ध धर्म की यह कमी और भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है जब उसकी तुलना इस्लाम या ईसाई धर्म से की जाए जिनमें कि धार्मिक व सामाजिक स्तर पर समुदाय की पहचान अनन्य और जलरुद्ध *(*exclusive and watertight*)* थी। इस तरह बौद्ध धर्म ऐसे उपासकों का एक संगठित समूह बनाने में असफल रहा जो धर्मान्तरण के पश्चात् संघ में जाने या दान देने के साथ–साथ स्वयं को सामाजिक तौर पर भी षेष समुदाय से अलग समझता।[31] जनसाधारण के बीच बौद्ध धर्म एक सम्प्रदाय बनकर रह गया था। षायद यही कारण था कि जनसाधारण ने बौद्ध धर्म को एक अलग व स्वतंत्र धर्म के रूप में माना ही नहीं। इसलिए यह कोई आष्चर्य वाली बात नहीं है कि बौद्ध उपासक धीरे–धीरे ब्राह्मणों के समुदाय में लुप्त हो गए।

अशोक के समय में धार्मिक प्रचार चार आर्य सत्यों की अपेक्षा प्राकृतिक धर्म के सामान्य तथ्यों पर आधारित था। अशोक के अभिलेखों में बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धांतों और गंभीर विचारों की तलाष करना व्यर्थ है क्योंकि वे न तो चार आर्य सत्यों या आष्टांगिक मार्ग का उल्लेख करते हैं और न ही प्रतीत्यसमुत्पाद या बुद्ध के अलौकिक गुणों का। वे केवल उन सार्वभौमिक सदाचारों और नीतियों का वर्णन करते हैं जो सामान्य उपासकों के लिए पहले से ही पिटक साहित्य में सूत्रबद्ध हो चुके थे, जैसे कि दीघ निकाय के लक्खण सुत्तंत[32] और सिंगालोवाद सुत्तंत[33] और मज्झिम, संयुत्त तथा

---

[31]B.G. Gokhale, "The Early Buddhist Ėlite," *JIH*, XLIII, Pt. II, 1965: 376.

[32]D.iii.142-72.

[33]D.iii.180-193.

अंगुत्तर निकाय के बहुत–से गहपतिवग्ग।[34] बौद्ध भिक्षु स्वयं जब धर्मविजय पर निकलते थे तो वे अपने श्रोताओं को धर्म की सच्चाइयों की बातें कम बताते थे और उन्हें मृत्यु, नरक, दुःख, व भूतों की कहानियाँ बताकर भयभीत अधिक करते थे। भिक्षुओं का मुख्य उद्देश्य, भारतीय आबादी को अपने पूर्वजों के विश्वासों और अन्धविश्वासों से तोड़ना नहीं बल्कि शाक्यपुत्रों के लिए समर्थकों व दानकर्त्ताओं को एकत्रित करना था।[35] भिक्षुओं द्वारा दूसरे भिक्षुओं के लिए तैयार किए गए सिद्धांतों के रहस्यों को बहुत ही कम लोगों ने जानने की कोषिष की। यदि जनसाधारण त्रिरत्न में शरण लेकर संघ–समुदाय को भोजन, वस्त्र, दान, बिस्तर, दवा इत्यादि देते रहते थे, तो वे समझते थे कि उन्होंने अपने कर्त्तव्य को पूरा कर लिया। आत्मदमन, ब्रह्मचर्य, धनहीनता, आत्मसंयम तथा मननषीलता जैसे भिक्षुओं के लिए बनाए गए सदाचार के गुणों का पालन करना जनसाधारण के लिए यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवष्य था। उन्हें अपने परिवारों का लालन–पालन करना होता था, नौकरों पर हुक्म चलाना होता था और उन्हें अपनी संपत्ति की देखभाल करना और उसे बढ़ाना होता था। जिन चीजों को वे निष्क्रिय सदाचार से खो देते थे उन्हें वे क्रियाशील सदाचार से पा लेते थे, और उनके विचार में पहलेवाला बादवाले के बराबर था।[36] "फिर भी यह सत्य है कि उपासक, जिसके धर्मोपदेष में कई कमियाँ थीं, बौद्ध धर्म और विधर्मी अन्धविश्वासों के बीच एक समझौता–सा स्थापित कर पाने के लिए उस लोकप्रिय सीमा से बहुत कम ही बाहर आया जिसमें उसकी जड़ें जमी थीं।।"[37]

---

[34]M.i.339-413; S.ii.68-80; A.iv.208-235.

[35]É. Lamotte, *Op. Cit.*: 1958: 78.

[36]वही।

[37]"It remains nonetheless true that the *upāsaka*, whose religious instruction leaves much to be desired, will rarely break away from the popular circle into which his roots are plunged and establish a kind of compromise between the Buddhist Dharma and the superstitions of paganism." ***(वही.69) ।***

बौद्ध धर्म की अनुकूलता के सर्वोच्च गुण के कारण विदेशों में इसे अपने प्रसार में सफलता प्राप्त हुई। लेकिन ब्राह्मणवाद के संदर्भ में यही गुण भारत में इसका प्रबल षत्रु बना और उपासक–स्तर पर इसके स्वरूप को पहचान से परे बदल डाला। "महायान ने मूर्तिपूजा, प्रार्थनाओं व अभिचारों, आडम्बरी समारोहों व कर्मकाण्डों पर बड़ा जोर डाला, अनेक जन–विश्वासों को सम्मिलित कर लिया और जनसाधारण की भावनात्मक माँगों के लिए जगह बनाई, और ऐसा करते हुए बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के सीधा करीब पहुँच गया। इस प्रक्रिया ने दोनों के बीच की भिन्नता को समाप्त कर डाला। भारत के उपासकों व उपासिकाओं ने बुद्ध और विष्णु, शिव और अवलोकित, तथा तारा और पार्वती की पूजा में कोई अन्तर नहीं समझा।"[38] बोधिसत्त्वों जैसे सिद्धान्तों के विकास के द्वारा बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म के निकट और भी तेज़ी से चला गया। विषाल बोधिसत्त्वों को पूर्णतः अलौकिक स्वभाव एवं गुण से युक्त बताया गया, जो एक आम व्यक्ति के रूप में संघर्ष करके सफलता पाने की अपेक्षा यथार्थ देवों के रूप में जिस तरीके से सांसारिक वरदान और आध्यात्मिक आशीर्वाद बाँटने लगे वह ब्राह्मणीय देवताओं से भिन्न नहीं था। अन्त में ऐतिहासिक बुद्ध की जगह भी इन आकृतियों द्वारा हड़प ली गई, हालाँकि बुद्ध आंशिक रूप से प्राणियों में सबसे पवित्र बने रहे पर जनसामान्य का झुकाव मंजुश्री और अवलोकितेश्वर जैसे महान बोधिसत्त्वों की ओर अधिक रहा। परिणामतः बौद्ध धर्म ने अपने आपको ब्राह्मण धर्म के अनिष्टकारी विश्वासों तथा प्रथाओं के प्रति खुला रखा। बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिए जाने के बाद तो बौद्ध धर्म के पैरों के नीचे की जमीन ही खिसक गई। "वैष्णव और

[38] "The Great Vehicle laid emphasis on the image-worship, prayers and incantations, pompous ceremonies and rituals; it incorporated many folk-beliefs and made room for the emotional demands of the laity, and in doing so, the Buddhists made a near and clear approach to Hinduism; this process ultimately led to the destruction of distinction between the two faiths. The laymen and lay-women of India found no difference between the worship of Viṣṇu and Buddha, of □iva and Avalokita, and of Tārā and Pāravatī." (L.M. Joshi, *Op Cit*: 309).

शैव धीरे से अपने विरोधी के पास पहुँचे और घनिष्ठ व मैत्रीपूर्ण आलिंगन से उसके षरीर की शक्ति को निचोड़ लिया।"[39] गुप्तोत्तर काल में तांत्रिक रिवाजों ने दोनों परम्पराओं को इस तरह सम्मिश्रित कर डाला था कि बौद्ध धर्म का अस्तित्व श्रद्धालुओं के स्तर पर निरर्थक, यहाँ तक कि अव्यावहारिक हो गया था।

ऊपर से पतन

बौद्ध धर्म भारत में किसी भी काल में एक प्रमुख धर्म के रूप में स्थापित हुआ प्रतीत नहीं होता। यह मुख्यतः नगरीय केन्द्रों तक ही सीमित था जहाँ जनसंख्या का छोटा भाग निवास करता था। विनय और सुत्त पिटक में निवासों का एक सांख्यिकीय अध्ययन यह संकेत करता है कि इसमें 95.37 प्रतिशत संख्या शहरों की थी।[40] उसी तरह जब हम विनय या सुत्त पिटक में वर्णित व्यक्तियों के जन्म स्थानों के आँकड़ों को देखते हैं तो पता चलता है कि 57.34 प्रतिशत लोग केवल 6 मुख्य नगरीय केन्द्रों– वाराणसी, श्रावस्ती, राजगृह, कपिलवस्तु, वैशाली और मिथिला से संबंधित थे।[41] अपने आरम्भिक दौर से ही बौद्ध धर्म राजाओं, धनी व्यक्तियों और नौकरशाहों में लोकप्रिय था। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म के नगरीय और अभिजात्य वर्गीय चरित्र ने उसे आम जनता से अलग रखा। इसके ऐसे स्वरूप के कारण इसकी कठिनाइयाँ और भी बढ़ गई होंगी जब नगरीकरण का पतन होने लगा। बौद्ध धर्म, जिसने बढ़ते शहरीकरण को वैचारिक अधिरचना प्रदान की[42] और अपनी पुष्टि व विकास के लिए उस पर अधिकतर निर्भर रहा, अन्ततः पतन में उसी का शिकार

---

[39] "Vaiṣṇavas and Śaivas crept up softly to their rival and drew the vitality out of its body by close and friendly embraces." (M. Monier-Williams, *Buddhism: In its Connecxion with Brāhmaṇism and Hinduism, and its Contrast with Christianity*, N. Delhi: 1995: 170; originally published in 1889).

[40] K.T.S. Sarao, *Origin and Nature of Ancient Indian Buddhism*, Delhi: Eastern Book Linkers, 1989: 44.

[41] वही. 45.

[42] D.D. Kosambi; *The Culture and Civilization of Ancient India*: Bombay: 1950: 100-104.

बन गया होगा।[43] विहार ही ऐसे संस्थान थे जहाँ बौद्ध धर्म दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों से अलग दिखाई पड़ता था। लेकिन ऐसा लगता है कि नगरीकरण के क्षय ने बौद्ध धर्म के इसी पहलू को भारी चोट पहुँचाई और इसकी सामाजिक प्राणाधार नींवों को खोखला कर डाला।

निष्कर्ष में, यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म का पतन दो विभिन्न स्तरों पर हुआ जो समयानुसार और परिस्थितियों में पूर्णतः अलग–अलग थे– नीचे से पतन और ऊपर से पतन। नीचे से पतन इसके जन्म के समय से ही उपासकों के स्तर पर हुआ। यह बौद्ध धर्म की प्रकृति में ही छिपा था क्योंकि इसके संस्थापक गौतम बुद्ध ने अपने अनुयायियों को दूसरे धार्मिक सम्प्रदायों, विषेषकर मुख्य ब्राह्मणवादी धारा, से अलग समुदाय के रूप में पहचान नहीं दी। मठों की बर्बादी और उनके अपसर्जन से ऊपर से पतन शुरू हुआ। सबसे प्रमुख कारण इसमें नगरीकरण का पतन प्रतीत होता है जिससे बौद्ध धर्म की मठ–व्यवस्था अपरिहार्य रूप से जुड़ी थी।

---

[43]B.G. Gokhale; "Early Buddhism and the Urban Revolution," *The Journal of the International Association of Buddhist Studies*, Vol. 5(2): 1982: 7-22.

ग्रंथ–सूची

कोश, विश्वकोश इत्यादि

पालि–हिन्दी कोष
संपादक भदंत आनन्द कौशलायायन, नागपुरः सुगत प्रकाशन कंपनी, 1974.

Sanskrit-English Dictionary
Ed. M. Monier-Williams, Oxford, 1951.

Pāli-English Dictionary
Eds. T.W. Rhys Davids & W. Stede, London: Pāli Text Society, 1921-25. (First Indian reprint, New Delhi: Oriental Books Reprint Corporation, 1975).

Encyclopaedia of Buddhism
First 5½ Vols, Colombo: Government of Ceylon, 1961-1996.

An Encyclopaedia of Indian Archaeology
2 vols, ed A. Ghosh, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1989.

Dictionary of Pāli Proper Names
2 Vols, ed. D.P. Malalasekera, Reprint, New Delhi: Oriental Reprint, 1983.

Vedic Index of Names and Subjects
2 vols, eds., A. Macdonnell & A.B. Keith, London: Murray, 1912, reprint, Delhi: Motilal Banarsidass, 1995.

पुरातात्त्वीय स्रोत

अयोध्या

IAR: 1955-56: 71; 1969-70: 40-41; 1976-77: 52-53, 1979-80: 76-77.

राजगीर

A. Cunnigham, *Archaeological Survey Reports*, 1871, 1873 & 1878; T. Bloch, "Excavations at Rājgīr,"*ARASI, Eastern Circle* 1905-06; J. Marshal, "Rājagṛiha and its Remains," *ARASI* 1905-06; V.H. Jackson, "Notes on Old Rājagṛiha," *ARASI* 1913-14; *IAR* 1953-54: 9, 1954-55: 16ff, 1957-58: 11, 1958-59: 13, 1961-62: 6-8, 1962-63: 5f.

चंपानगर

IAR 1968-69: 4, 1969-70: 2, 1970-71: 4-5, 1971-72: 5, 1972-73: 6-7, 1974-75: 8-9, 1975-76: 7, 1976-77: 11-12.

कोसम्

IAR 1958-59: 68, 1961-62: 9, 1962-63: 6, 1963-64: 8, 1964-65: 7, 1968-69: 5-6; 1970-71: 7-8; 1971-72: 6-7; 1972-73: 8, 1980-81: 9; *MASI* 1969: 36-39.

राजघाट

IAR 1957-58: 50, 1960-61: 37, 1961-62: 58, 1062-63: 41, 1963-64: 58-59, 1964-65: 44, 1965-66: 55.

सहेठ–महेठ

A. Cunningham, *Archaeological Survey Reports* I, 1871: 317ff, 330ff; J. Ph. Vogel, "Excavations at Saheth-Maheth,"*ARASI*: 1907-08: 81-131. D.R. Sahni, "A Buddhist Image Inscription from Śrāvastī," *ARASI*: 1908-09: 133-38; J.H. Marshall, "Excavations at Saheth-Maheth," *ARASI*: 1910-11; IAR 1955-56: 71, 1958-59: 47-

50; K.K. Sinha, *Excavations at Śrāvastī: 1959*, 2, Varanasi: Monograph of the Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology, BHU: 1967.

मूल ग्रंथ

The Vinaya Piṭaka

Ed. H. Olderberg, 5 vols. London: PTS, 1879-1883. Translated references are from tr. I.B. Horner; *The Book of the Discipline*, 6 vols. London: PTS, 1938-1966; tr. T.W. Rhys Davids & H. Oldenberg, *Vinaya Texts*, Vol 13, 17, 20, SBE, reprint, Delhi: Motilal Banarsidass: 1982-85; *राहुल सांकृत्यायन* (**अनुवादक**), *विनय पिटक*, reprinted for free distribution by the Corporate Body of the Buddha Education Foundation: Taipei: Taiwan: nd.

The Dīgha Nikāya

Ed. T.W.Rhys Davids & J.E. Carpenter, 3 Vols. PTS London, 1890-1911. Tr. T.W. & C.A.F. Rhys Davids; *The Dialogues of the Buddha*; 3 vols. 1899, 1910 & 1957 respectively (reprints), London: PTS. Also translated by M. Walshe, *Thus Have I Heard: The Long Discourses of the Buddha*, London: Wisdom Publications, 1987.

The Majjhima Nikāya

Ed. V. Trenckner & R. Chalmers, 3 vols. London: PTS, 1888-1896. Tr. I.B.Horner; *The Collection of Middle Length Sayings*, 3 vols. London: PTS, 1954-1959 (Reprints). Also tr. R. Chalmers, *Further Dialogues of the Buddha*, 2 vols, London: Sacred Books of the Buddhists Series, 1926-27; Also tr.

Bhikkhu Ñāṇamoli and Bhikkhu Bodhi, *The Middle Length Discourses of the Buddha*, Boston, Mass: Wisdom Publications, 1995.

The Aṅguttara Nikāya
Ed. R. Morris & E. Hardy, 5 vols. London: PTS, 1885-1900. The translated references are from *The Book of the Gradual Sayings*, tr. F.L. Woodward: vols. I, II & V; E.M. Hare: vols. III & IV, London: PTS, 1955-1970 (Reprints).

The Saṃyutta Nikāya
Ed. M.L. Feer, 5 vols. London: PTS, 1884-1898. Tr. C.A.F. Rhys Davids and S.S. Thera, vol. I; C.A.F. Rhys Davids & F.L. Woodward vol. II; F.L. Woodward vols. III, IV, V. *The Book of the Kindred Sayings*; London: PTS, 1950-1956 (Reprints).

The Khuddakapāṭha
Ed. H. Smith, London: PTS, 1915. Tr. with its commentary, Bhikkhu Ñāṇamoli, *Minor Readings and Illustrator*, London: PTS, 1960.

The Sutta-Nipāta
Eds. D. Andersen & H. Smith, reprint, London: PTS, 1984. Tr. K.R. Norman; *The Group of Discourses*, with alternative tr. by I.B. Horner & W Rahula, London: PTS, 1984.

The Jātakas
Ed. V. Fausböll , 7 vols. (7 vol. index by D. Anderson), Trubner & Co, London, 1877-1897. Tr.

by various hands, 6 vols. *The Jātaka or the Stories of the Buddha's Former Births*, Cambridge : Cambridge University Press, 1895-1907.

The Dhammapada
Ed & tr. Nārada Thera, Kuala Lumpur: Buddhist Missionary Society, 1978.

The Udānaṃ
Ed. P. Steinthal, London: PTS, 1885. Tr. F.L. Woodward; *Verses of Uplift*, London: Oxford University Press, 1948. Tr. John D. Ireland, *The Udāna: Inspired Utterances of the Buddha*, Kandy: Buddhist Publication Society, 1990.

The Theragāthā
Ed. K.R.Norman & L. Alsdorf; London: PTS, 1966. Tr. with an intro. & notes K.R.Norman; *Elders' Verses II*, London: PTS, 1969.

The Therīgāthā
Ed. K.R. Norman & L. Alsdorf; London: PTS, 1966. Tr. with an intro. & notes K.R. Norman; *Elders' Verses II*, London: PTS, 1971; tr. C.A.F. Rhys Davids & K.R. Norman, *Poems of Early Buddhist Nuns*, London: PTS, 1989.

The Apadāna
Ed. M.E. Lilley; 2 vols, London: PTS, 1925-27.

The Itivuttaka
Ed. E. Windish; London: PTS, 1889. tr. F.L. Woodward; *Itivuttaka: As It Was Said*, London:

Oxford University Press, 1948. Also tr. John D. Ireland, *Itivuttaka: The Buddha's Sayings*, Kandy: Buddhist Publication Society, 1991.

The Petavatthu & the Vimānavatthu
Ed. N.A. Jayawickrama; London: PTS, 1977. Tr. H.S. Gehman; *Petavatthu: Stories of the Departed, The Minor Anthologies of the Pāli Canon*, Part IV, London: PTS, 1974. Tr. I.B. Horner (assisted by N.A. Jayawickrama); *Vimānavatthu: Stories of the Mansions, The Minor Anthologies of the Pāli Canon*, Part IV, London: PTS, SBB, XXI, 1974.

The Mahā-Niddesa
Eds. L. de le Vallêe Poussin & E.J. Thomas; London : PTS, 2 vols, 1916-17. Combined reprint London: PTS, 1978.

The Culla-Niddesa
Ed. W. Stede; 3 vols, London: PTS, 1918.

The Paṭisambhidāmagga
Ed. A.C.Taylor; London: PTS, 2 vols, 1905, 1907. Tr.Bhikkhu Ñaṇamoli (with an inttro. by A.K. Warder); *The Path of Discrimination*, London: PTS, 1982.

The Cariyāpiṭaka & the Buddhavaṃsa
Ed. N.A.Jayawickrama, London: PTS, 1974. Tr. I.B. Horner; *The Minor Anthologies of the Pāli Canon*, Part III, London: PTS, 1975. References are from R. Morris' edition, London: PTS, 1882.

The Dhammasaṅgaṇī
Ed. London: PTS, 1885; Ed. P.V. Bapat and R.D. Vadekar, Poona: The Bhandarkar Research Institute, 1940. Tr. C.A.F. Rhys Davids, *A Buddhist Manual of Psychological Ethics, being a Translation of Dhamma-saṅgaṇi* (*Compendium of State or Phenomena*), London: Royal Asiatic Society, 1900.

The Vibhaṅga
Ed. C.A.F. Rhys Davids, London: PTS, 1904. Tr. U. Thittila, *The Book of Analysis*, London: PTS, 1969.

The Kathāvatthu
Ed. A.C. Taylor, 2 vols, London: PTS, 1894-95. Tr. Shwe Zan Aung and C.A.F. Rhys Davids, *Points of Controversy or Subjects of Discourse, being a Translation of the Kathāvatthu from the Abhidhammapiṭaka*, London: PTS, 1915.

The Puggalapaññatti
Ed. London: PTS, 1883; Tr. B.C. Law, *Designation of Human Types* (*Puggalapaññatti*), London: PTS, 1924.

The Dhātukathā
Ed. U. Nārada, *Discourse on Elements (Dhātukathā)*, London: Luzac & Co, 1962; Tr. U. Nārada and Thein Nyun, *Discourse on Elements (Dhātukathā): The Third Book of the Abhidhammapiṭaka*, London: PTS, 1962.

The Paṭṭhāna
Tr. U. Nārada, *Mūla Paṭṭāna Sayadaw*, London: Luzac & Co, 1969.

The Visuddhimagga

Ed. H.C. Warren and rev. D. Kosambi, *The Visuddhimagga of Buddhaghosācāriya*, Cambridge, Mass: Harvard Oriental Series, vol. 41, 1951.Tr. Pe Maung Tin, *The Path of Purity, being a Translation of Buddhaghosa's Visuddhimagga*, 3 vols, London, 1922-31. Tr. Bhikkhu Ñāṇamoli, *The Path of Purification (Visuddhimagga), Colombo, 1956.*

The Vinaya Piṭaka Aṭṭhakathā

Ed. J. Takakusu & M. Nagai, *the Samantapāsādikā*, Buddhaghosa's commentary on the *Vinaya Piṭaka*,, 8 vols (including index by H.Kopp), London: PTS, 1947-1975.

The Dīgha Nikāya Aṭṭhakathā

Eds. T.W. Rhys Davids, J.E. Carpentier & W. Stede, *Sumaṅgalavilāsinī*, Buddhaghosa's commentary on the *Dīgha Nikāya*, 3 vols, London: PTS, 1886-1932.

The Aṅguttara Nikāya Aṭṭhakathā

Eds. H. Walleser & H. Kopp, *the Manorathapūraṇī,* Buddhaghosa's commentary on the *Aṅguttara Nikāya*, 5 vols, London: PTS, 1956-1973.

The Saṃyutta Nikāya Aṭṭhakathā

Ed. F.L. Woodward, *the Sāratthappakāsinī*, Buddhaghosa's commentary on the *Saṃyutta Nikāya*, 3 vols, London: PTS, 1977.

The Majjhima Nikāya Aṭṭhakathā

Eds. J.H. Woods, D. Kosambi & I.B. Horner, *the Papañcasūdanī*, Buddhaghosa's commentary on the

Majjhima Nikāya, 5 vols, London : PTS, 1922-38.

The Dhammapada Aṭṭhakathā

Ed. H. Smith, H.C. Norman, L.S. Tailang, *Dhammapada Aṭṭhakathā*, 4 vols, London: PTS, 1906-15; Tr. E.W. Burlingame, *Buddhist Legends*, 3 vols, Harvard Oriental Series, Cambridge, Mass: Harvard University Press, 1921, repr. London: PTS, 1979.

The Buddhavaṃsa Aṭṭhakathā

Ed I.B. Horner, *the Madhuratthavilāsinī,* Buddhadatta Thera's commentary on the *Buddhavaṃsa*, London: PTS, 1946; tr I.B. Horner, *the Clarifier of Sweet Meaning* (*Madhuratthavilāsinī*), trnaslation of the Pāli Commentaries No. 1, , London: PTS, SBB, XXXIII, 1978.

The Udāna, *the Theragāthā*, *the Therīgāthā*, the *Cariyāpiṭaka, the Itivuttaka*, *the Vimānavatthu*, and *the Petavatthu Aṭṭhakathā*

Eds. F.L. Woodward, E. Hardy, E. Muller, D.L. Barua *et al*, *Paramatthadīpanī,* Dhammapālācariya's commentary on *the Udāna*, *the Theragāthā*, *the Therīgāthā*, the *Cariyāpiṭaka, the Itivuttaka*, *the Vimānavatthu*, and *the Petavatthu*, London: PTS, 1891-1977; Tr. W. Pruitt, *The Commentary on the Verses of the Therīs*, Oxford: PTS, 1998; P. Masefield, *The Udāna Commentary*, vol.1, Oxford: PTS, 1994.

The Khuddaka-Pāṭha Aṭṭhakathā

Ed. H. Smith, the *Paramatthajotikā I* , London: PTS,

1915. Tr. with its commentary, Bhikkhu Ñāṇamoli, *Minor Readings and Illustrator*, London: PTS, 1960.

The Sutta-Nipāta Aṭṭkathā
Ed. H. Smith, *the Paramatthajotikā II*, the *Sutta-Nipāta* commentary, London: PTS, 1916-18.

The Dhammasaṅgaṇi Aṭṭhakathā
Eds. P.V. Bapat and R.D. Vadekar, *the Aṭṭhasālinī*, Buddhaghosa's commentary on the *Dhammasaṅgaṇi,* Poona: The Bhandarkar Oriental Research Institute, 1942.Tr. Pe Maung Tin and rev. and ed. C.A.F. Rhys Davids, *The Expositor* (*Aṭṭhasālinī*), *Buddhaghosa's Commentary on the Dhammasaṅgaṇī:* London: PTS, 1920-21.

The Kathāvatthu Aṭṭhakathā
Ed. J. Minayeff, *Kathāvatthuppakarṇa Aṭṭhakathā*, JPTS, 1889: 1-222. Tr. B.C. Law, *The Debates Controversy*, London: PTS, 1940.

The Puggalapaññatti Aṭṭhakathā
Ed. G. Landsberg and C.A.F. Rhys Davids, London: JPTS, 1913-14: 170-254.

The Mahāniddesa Aṭṭhakathā
Ed. A.P. Buddhadatta, *Saddhamapajjotikā-Mahā-niddesa Aṭṭhakathā*, 3 vols, London: PTS: 1931-41.

The Cullaniddesa Aṭṭhakathā
Ed. Bruggamuwe Sri Revata, *Saddhamapajjotikā-Culla-niddesa Aṭṭhakathā* Colombo: Simon Bequest,

XIV, 1923.

The Paṭisambhidāmagga Aṭṭhakathā
Ed. C.V. Joshi, *Saddhammap-Pakāsini*, 3 vols, London: PTS, 1933-47.

The Apadāna Aṭṭhakathā
Ed. C.E. Godakumbura, *Visuddhajanavilāsini*, London: PTS, 1954.

The Vibhaṅga Aṭṭhakathā
Ed. A.P. Buddhadatta, *Sammohavinodanī*, London: PTS, 1923.

The Milindapañha
Ed. Swami Dwārikādāsaśāstrī, *Milindapañhapāli*, (Devanagari), Varanasi: Bauddhabharati, 1979. References are from ed. V. Trenckner, *Milindapañha*, London: Williams and Norgate: 1880. Tr T.W. Rhys Davids, *The Questions of King Milinda*, SBE, Vols. 35 & 36, reprint, Delhi: Motilal Banarsidass, 1982 (first published by Oxford University Press, 1890).

The Dīpavaṃsa
Ed. & tr. with intro. B.C.Law; *The Chronicle of the Island of Ceylon or the Dīpavaṃsa*, Colombo: The Ceylon Historical Journal, 7, 1958, 1-266; Ed & tr., H. Oldenberg, *The Dīpavaṃsa: An Ancient Buddhist Historical Record*, London, 1979, reprint, New Delhi: Asian Educational Services, 1992.

The Mahāvaṃsa

Ed. W. Geiger; *The Mahāvaṃsa*, London: PTS, 1908 & 1912. Tr. W. Geiger & M.H. Bode; *The Mahāvaṃsa or the Great Chronicle of Ceylon*, London: PTS, 1912.

The Cūlavaṃsa

Tr. W. Geiger, *The Cūlavaṃsa: Being the More Recent Part of the Mahāvaṃsa*, 2 vols.,London, 1930; tr. (German to English) C. Mabel Rickmers, Reprint, New Delhi: Asian Educational Service, 1992.

Si-Yu-Ki

Tr. Thomas Watters, *On Yuan Chwang's Travels in India*, London, 1904-05, 2nd Indian edition, Delhi: Munshiram Manoharlal, 1973. Tr. Samuel Beal, *Si-Yu-Ki: Buddhist Records of the Western World*, London, 1884, Indian reprint, Delhi: Motilal Banarsidass, 1981.

अमौलिक स्रोत

Adikaram, E.W., *Early History of Buddhism in Ceylon*, Colombo, 1953.

Agrawal, D.P., *Radiocarbon Dates from India*, Bombay: Tata Institute of Fundamental Research, 1963.

Agrawal, D.P., “Steps Towards Urban Revolution in the Doab: Archaeological and Ecological Data,” cyclostyled paper, 1971.

Agrawal, D.P., *The Archaeology of India*, New Delhi, 1984.

Agrawal, V.S., *India, as Known to Pāṇinī,* Lucknow: *University* of Lucknow, 1953.

Agrawal, V.S., *पाणिनी कालीन भारत*, **बनारस**: v.s.2012.

Aguilar, H., *The Sacrifice in the Ṛgveda*, Delhi, 1976.

Aiyer, V.G., “The Date of Buddha,” *Indian Antiquary*, 37, 1908: 341-350.

Akira, H., *A History of Indian Buddhism: A History of Indian Buddhism from "Sākyamuni to Early Mahāyāna*. Hawaii: University of Hawaii Press, 1990.

Allan, J., *A Catalogue of the Coins of Ancient India*, London, 1967.

Allchin, B. & F.R., *The Birth of Indian Civilization*,

Harmondsworth: Penguin Books, 1968.

Allchin, B. & F.R., *The Rise of Civilization in India and Pakistan,* Cambridge: Cambridge University Press, 1982.

Allchin, F.R. & V. Mishra, *Report on the Kumrahar Excavations, 1951-55*, Patna: K.P. Jayaswal Research Institute, 1959.

Alsdorf, Ludwig, *Beiträge zur Geschichte von Vegetarismus und Rinderverehrung in Indien*, Wiesbaden: Verlag der Akademie der Wissenchaften und der Literature in Mainz, 1962.

Altekar, A.S., *The Position of Women in Hindu Civilization*, 3rd Edition, Delhi: Motilal Banarsidass, 1974.

Ambedkar, B.R., B.R. Ambedkar, *The Untouchable* (*Who Are They? And Why They Became Untouchables?*), New Delhi, 1948.

Aronson, H.B., *Love and Sympathy in Theravāda Buddhism*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1980.

Astley, Ian, (A book review of) *Buddhism after Patriarchy: A Feminist History, Analysis, and Reconstruction of Buddhism,* in *Studies in Central & East Asian Religions* Vol. 5/6 (Copenhagen: Journal of the Seminar for Buddhist Studies, 1992-3: 208.

Bagchi, P.C., "Decline of Buddhism and its Causes," Asutosh

Mukerjee Silver Jubilee Volumes. III.

Banerjee, N.R., "Excavations at Ujjain," E. Waldachmidt (ed), *Indologen Tagung Göttingen*: Vandenhoeck Ruprecht, 1959-60: 74-86.

Banerjee, N.R., *The Iron Age of India*, Delhi: Motilal Banarsidass*, 1965*.

Bapat, P.V., "The Literary Strata in the Literary Material of the *Dīgha Nikāya*," *Annals of the Bhandarkar Research Institute*, VIII, Pt. I, Poona, 1926, 1-16.

Bapat, P.V. (ed), *2500 Years of Buddhism*, New Delhi: Publication Division, Ministry of Information & Broadcasting, Government of India, 1956.

Bareau, André, "La date du nirvāṇa," *Journal Asiatique*, 241, 1953: 27-62.

Bareau, André, *Recherches sur la Biographie du Buddha dans les Sūtrapiṭaka et les Vinayapiṭaka Anciens*, 2 vols, Paris: Ecole Francaise d'Extreme-Orient, 1963 &1970.

Bareau, André, "The Problem Posed by the Date of the Buddha's Parinirvāṇa," Heinz Bechert (ed), *When Did the Buddha Live?*, Delhi: Sri Satguru Publications, 1995: 211-219.

Barlingay, S.S., "Buddhism and Change," *ABORI*, Jubilee Volume: 459-467.

Barnes, Nancy S., "Buddhism," A. Sharma (ed), *Women in Religion*, Albany: State University of New York, 1987, 105-133.

Barnett, L., *Antiquities of India: An Account of the History and Culture of Ancient Hindustan*, London: Philip Lee Warner, 1913.

Bartholomeus, Tessa, *Women Under the Bo Tree*, a Ph.D. Dissertation submitted to the University of Virginia, 1991: 55-61.

Bartholomuesz,Tessa, "The Female Mendicant in Buddhist Sri Lanka," Jose Ignacio Cabezon (ed), *Buddhism, Sexuality and Gender*, New York: State University of New York Press, 1992: 38-51.

Barua, B.M., "Identification of Four Jātakas at Bharhur," *JASB*, New Series, 1923: 349-356.

Barua, B.M., *Aśoka and His Inscriptions*, Part II, 3rd edition, Calcutta: New Age Publishers, 1965.

Barua, D.K., "Buddhism and Lay Worshipers," *Mahābodhi*, LXXIV, Nos. 3-4: 39-44.

Basham, A.L., *The Wonder that was India*, London: Sidgwick and Jackson, 1954.

Basham, A.L., *History and Doctrine of the Ājivikās*, London: Luzac & Co. Ltd., 1951.

Basham, A.L., "The Background to the Rise of Buddhism,"

A.K. Narain (ed), *Studies in History of Buddhism*, Delhi, 1980.

Beal, S., *Si-Yu-Ki: Buddhist Records of the Western World*, 2 vols., London: Trübner & Co, 1906.

Bechert, H., "The Date of the Buddha Reconsidered," *Indologica Taurinensia*, 10, 1982: 29-36.

Bechert, H., "A Remark on the Problem of the Date of Mahāvīra," *Indologica Taurinensia*, 11, 1983: 287-290.

Bechert, H.& R. Gombrich (eds), *The World of Buddhism*, London: Thames and Hudson, 1984.

Bechert, H. (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha*, 2 vols, 3 Folge, nos. 189, 194, Göttingen: Abhandlungen der Akademie der Wissenschaften in Göttingen, 1991, 1992.

Bechert, H. (ed), *When Did the Buddha Live?*, Bibliotheca Indo-Buddhica Series No. 165, Delhi: Sri Satguru Publications, 1995.

Bhandarkar, D.R., *Lectures on the Ancient History of India*, Carmichael Lecture Series 1918, Calcutta: University of Calcutta, 1919.

Bhandarkar, D.R., *Aśoka*, Calcutta: University of Calcutta, 1925.

Bharadwaj, H.C., "Aspects of Early Technology in India," D.P. Agrawal & A. Ghosh (eds), *Radiocarbon and Indian Archaeology*, Bombay, 1973: 393-397.

Bhattacharya, N.N., *Buddhism in the History of Indian Ideas*, Delhi, 1993.

Bhattasali, N., "Mauryan Chronology and Connected Problems," *JRAS*, Part II, 1932: 273-288.

Blackstone, Kate, R., *Women in the Footsteps of the Buddha: Struggle for Liberation in the Therīgāthā*, London: Curzon Press, 1998.

Blackstone, Kate, R., "Damming the Dhamma: Problems with Bhikkhunīs in the Pāli Vinaya," a paper presented at the *Twelfth Conference of the International Association of Buddhist Studies*, Lausanne, Switzerland, August 1999.

Bloch, T., "The Piprahwā Inscription," *JRAS*, 1899: 425ff.

Bloch, T., "Excavations at Rājgīr,"*ARASI, Eastern Circle* 1905-06.

Bloch, T., "Notes on Buddha-Gayā,"*ARASI,* 1908-09, 139-158.

Bongard-Levin, G.M., *Mauryan India*, New Delhi, 1985 (Translated from Russian).

Bose, A.N., *The Social and Rural Economy of North-East India*, 2 vols, Calcutta, 1942-45.

Bouglé, C., *Essays on the Caste System*, Cambridge, 1977.

Bühler, G., "Three New Edicts of Aśoka," *Indian Antiquary*, 6, 1877, 149-160.

Bühler, G., "Three New Edicts of Aśoka, Second Notice," *Indian Antiquary*, 7, 1878, 141-160.

Bühler, G., "Aśoka's Sahasram, Rupnath and Bairat Edicts," *Indian Antiquary*, 12, 1893: 299-306.

Cabezon, J. (ed), *Buddhism, Sexuality and Gender,* Albany: State University of New York Press, 1992.

Carmody, D.L., *Women and World Religions*, 2nd edition, Englewood Cliffs, NJ: Prentice-Hall, 1989.

Chakrabarti, D.K., "The Beginning of Iron in India," *Antiquity*, 50 (198), 1976, 114-124.

Chakrabarti, D.K., "Distribution of Iron Ores and Archaeological Evidence of Early Iron in India," *JESHO*, XX, Part II, 1977, 166-185.

Chakrabarti, D.K., "Iron in Early Indian Literature," *JRAS*, 1979: 22-30.

Chakrabarti, D.K., "The Study of Iron Age in India," *Purātattva*, Nos. 13-14, 1984: 81-85.

Chakrabarti, D.K., *The Archaeology of Ancient Indian Cities*, Delhi: Oxford University Press, 1995.

Chakraborti, H., *Trade and Commerce in Ancient India*, Calcutta, 1966.

Chakravarty, U., *The Social Dimensions of Early Buddhism*, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1987.

Chandra, P., *Stone Sculpture in the Allahabad Museum*, Bombay, 1970.

Chappell, D.W., "Early Forebodings of the Death of Buddhism," *Numen*, XXVII, 1980, Fasc.1: 122-154.

Chapple, C.K., *Nonviolence to Animals, Earth, and Self in Asian Traditions*, First Indian Edition, New Delhi: Sri Satguru Publications, 1995. Originally published by New York: State University of New York Press, 1993.

Chattopadhyaya, D.P., *Lokāyata*, New Delhi: People's Publishing House, 1978.

Chattopadhyaya, D.P., *Indian Atheism*, Second Print, New Delhi: People's Publishing House, 1983.

Chattopadhyaya, D.P., *Religion and Society*, Bangalore, 1987.

Childe, V.G., *What Happened in History?*, Harmondsworth: Pelican Books, 1942.

Childe, V.G., "The Birth of Civilization," *Past and Present*, II, Nov. 1952, 1-10.

Church, Cornelia D., "Temptress, Housewife, Nun: Women's

Role in Early Buddhism," *Anima*, 1, 1975: 52-58.

Collins, S., *Selfless Persons: Imagery and Thought in Theravāda Buddhism*, Cambridge, 1982.

Conze, E., *Buddhism: Its Essence and Development*, New York: Philosophical Library, 1951.

Conze, E., *A Short History of Buddhism*, Oxford, 1960.

Cribb, J., "Dating India's earliest Coins," *South Asian Archaeology*, 1983: 535-554.

Cunningham, A., *Archaeological Survey Reports*, 1871, 1873 & 1878.

de Beauvoir, Simone, *Second Sex*, New York: Knopf, 1953.

De, Gokuldas, *Democracy in Early Buddhist Saṅgha*. Calcutta: Calcutta University, 1995.

della Casa, Carlo, "Ahiṃsā: Significato e Ambito Originari della Non Violenza," *Indologica Taurinensia*, Vol. III, No. 4, 1975-76: 187-196.

Deva, K & V. Mishra, *Vaiśālī Excavations, 1961*, Vaishali: Vaishali Sangh, 1961.

Deva, K., "Observations on Chakrabarti's Paper," *Purātattva*, 6, 1972-73: 34.

Dewaraja, L.S., *The Position of Women in Buddhism*, Wheel

Pamphlet # 280, Kandy: Buddhist Publication Society, 1981.

Dhammananda, K., *Status of Women in Buddhism*, Kuala Lumpur: BMS Publication, 1980.

Dikshit, K.N., "Buddhist Relics from Sopara Re-Examined," *Journal of the Gujarat Research Society*, 1 (4), 1939, 1-5.

Dikshitar, V.R.R., *The Matsya Purāṇa: A Study*. Madras: University of Madras, 1925.

Dumont, Louis, *Homo Hierarchicus: The Caste System and Its Implications*, tr. Mark Sainsbury, Chicago: The University of Chicago Press, 1970.

Dutt, N., *Early Monastic Buddhism*, Calcutta, 1941.

Dutt, N., *Origin and Growth of Caste in India* vol. 1, Calcutta, 1968.

Dutt, N., *Buddhist Sects in India*, 2nd edition, Delhi, 1978.

Dutt, R.C., *A History of Civilizaion in Ancient India*, Calcutta, 1891.

Dutt, S., *Early Buddhist Monachism*, London: Luzac and Co. Ltd, 1957.

Dutt, S., *Buddhist Monks and Monasteries of India: Their History and Their Contribution to Indian Culture*, London: Allen & Unwin, 1962, reprint, Delhi:

Motilal Banarsidass, 1984.

Eggermont, P.H.L., *The Chronology of the Reign of Asoka Moriya*, Leiden: E.J. Brill, 1956.

Eggermont, P.H.L., "New Notes on Aśoka and His Successors II,"*Persica 4*, 1969: 77-120.

Eggermont, P.H.L., "New Notes on Aśoka and His Successors III,"*Persica 5*, 1970-71: 69-80.

Eggermont, P.H.L., "New Notes on Aśoka and His Successors IV,"*Persica* 8, 1979: 55-93.

Eggermont, P.H.L., "The Year of Buddha's Mahāparinirvāṇa," Heinz Bechert (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha (Symposien zur Buddhismusforschung, IV, 1),* Gottingen, 1991: 237-251.

Eisler, Riane, *The Chalice and the Blade: Our History, Our Future*, San Francisco: Harper and Row, 1987.

Eliot, C., *Hinduism and Buddhism*.II, London, 1954: 6.

Embree, A.T. (ed), *Sources of Indian Tradition: From the Beginning to 1800*, 2nd revised edition, New Delhi: Penguin Books, 1992.

Engels, F., *The Origin of the Family, Private Property and the State*, Harmondsworth: Penguin Books, 1940.

Erdösy, G., "Early Historic Cities of Northern India," *South*

Asian Studies, 3, 1987, 1-23.

Erdösy, G., *Urbanization in Early Historic India*, Oxford: B.A.R. International Series 430, 1988.

Erdösy, G., "The Archaeology of Early Buddhism," N. K. Wagle & F. Watanabe (eds), *Studies on Buddhism in Honour of Professor A.K. Warder*, Toronto, 1993: 40-56.

Fairservis Jr., W.A., *The Roots of Ancient India*, London: George Allen & Unwin Ltd, 1971.

Falk, Nancy A., "An Image of Woman in Old Buddhist Literature: The Daughters of Mara,"Judith Plaskow & John A. Romero (eds), *Women and Religion*, Missoula, Mont.: Scholars Press, 1974.

Falk, Nancy A., "The Case of the Vanishing Nuns: The Fruits of Ambivalence in Ancient Indian Buddhism," (ed), *Unspoken Words: Women and Religious Lives*, Belmont, CA: Wadsworth, 1989.

Fick, R., *Social Organization in North-East India in Buddha's Time*, tr. S.K. Mitra, Calcutta: University of Calcutta, 1920.

Findly, E. Banks, "Ānanda's Hindrance: Faith (*saddhā*) in Early Buddhism," *Journal of Indian Philosophy,* 20, 1992: 253-273.

Findly, E. Banks, "Women and the *Arahant* Issue in Early Pāli Literature," *Journal of Feminist Studies in Religion,* 15/1, Spring 1999: 57-76.

Fleet, J.F., "The Tradition about the Corporal Relics of the Buddha," *JRAS*, 1906: 655-671, 881-913, 1907: 341-363.

Fleet, J.F., "The Day on Which Buddha Died," *JRAS*, 1909, 1-34, 426-428.

Fleet, J.F., "The Date of the Death of Buddha," *JRAS*, 1912: 239-241.

Frauwallner, E., *The Earliest Vinaya and the Beginnings of Buddhist Literature*, Roma:Is. M.E.O., Serie Orientale Roma, 8, 1956.

Freedman, M., "Ānanda in the Theravāda," *Journal of Indian Philosophy,* 20,1992: 442-485.

Geiger, W., *The Dīpavaṃsa and the Mahāvaṃsa and Their Historical Development in Ceylon*, tr. E.M. Coomaraswamy, Colombo, 1908. (Originally published in German in 1905).

Geiger, W., "Introduction" to *The Mahāvaṃsa or the Great Chronicle of Ceylon*, London: PTS, 1912.

Ghosh, A., "Rājgriha," *Ancient India, Bulletin of the ASI,*7, 1951: 66-78.

Ghosh, A. & M.H. Kuraishi, *Rājgīr*, 5th edition, New Delhi, 1958.

Ghosh, A., "Observations on Chakrabarti's Paper,"

Purātattva, 6, 1972-73: 35.

Ghosh, A., *The City in Early Historic India*, Simla: Indian Institute of Advanced Study*, 1973.*

Ghurye, G.S., *Caste and Race in India*, London, 1932.

Gokhale, B.G., "The Early Buddhist Ēlite," *JIH*, XLIII, Pt. II, 1965: 391-402.

Gokhale, B.G., "Early Buddhism and the Urban Revolution," *JIABS*, Vol. 5(2), 1982: 7-22.

Gokhale, B.G., *New Light on Early Buddhism*, Bombay: Popular Prakashan, 1994.

Gombrich, R., *Theravāda Buddhism: A Social History from Ancient Benares to Modern Colombo*, London & New York: Routledge, 1988.

Gombrich, R., "Dating the Buddha: A Red Herring Revealed," Heinz Bechert (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha (Symposien zur Buddhismusforschung, IV, II),* Gottingen, 1991: 238-259.

Gomez, L.O., "Nonviolence and the Self in Early Buddhism," *Kraft*, 1992: 31-48.

Gordon, D.H., "The Early Use of Metals in India and Pakistan," *Journal of the Royal Anthropological Institute*, 80, 1950: 58-78.

Goswami K.G., "Kosam Inscription of (the Reign of) Kanishka: the Year 2," *EI*, xxiv: 210ff.

Gross, Rita M., "Buddhism and Feminism: Toward Their Mutual Transformation," *The Eastern Buddhist,* New Series, Tokyo: Komiyama Printing Co., Vol. XIX, Nos. 1-2, 1986: 46-62..

Gross, Rita M., *Buddhism after Patriarchy: A Feminine History, Analysis, and Reconstruction of Buddhism*, Albany: State University of New York Press, 1992.

Gross, Rita M., *Feminism & Religion: An Introduction*, Boston: Beacon Press, 1996.

Gross, Rita M., "Some Buddhist Perspectives on the Goddess," Karen King (ed), *Women and Goddess Traditions*, Minneapolis: Fortress Press, 1998.

Gunawardana, R.A.L.H., "The Analysis of Pre-Colonial Social Formations in Asia in the Writings of Karl Marx," *IHR*, II (2), 1976: 365ff.

Gupta, P.L., *Coins*, New Delhi: National Book Trust, 1969.

Gupta, S.P., "Two Urbanizations in India: A Study of Their Social Structure," *Purātattva*, 1974: 53-60.

Hauser, PM & L.Schnore (ed), *The Study of Urbanization*, New York: John Wiley & Sons, 1975.

Halbfass, W., "Early Indian References to the Greeks and the

First Encounters between Buddhism and the West," H. Bechert (ed), *When Did the Buddha Live?*, Delhi: Sri Satguru Publications, 1995, 195-209.

Hercus, L.A. et al (eds.), *Indological and Buddhist Studies*, Canberra: ANU, 1982.

Hersokovits, M.J., *Economic Anthropology*, New York, 1952.

Hhsken, Ute, "Die Legende von der Einrichtung des buddhistischen Nonnenordens im Vinaya-Pitaka der Theravādin," R. Grhnendahl et al (eds), *Studien zur Indologie und Buddhismuskunde*, Bonn: Indica et Tibetica Verlag, 1993, 151-170.

Hilton, R.H., "The Transition from Feudalism to Capitalism," *Science and Society*, XVII, 4, Fall 1953: 340-348.

Hoey, W., "On the Identification of Kusinara, Vaishali and Other Places Mentioned by the Chinese Pilgrims," *JASB*, LXI, Pt. I, 1900: 74-92.

Holt, J.C., *Discipline: The Canonical Buddhism of the Vinayapitaka*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1981.

Horner, I.B., "Early Buddhism and Taking of Life," D.R. Bhandarkar, K.A. Nilakanta Sastri *et al* (eds), *B.C. Law Volume*, I, Calcutta, 1945.

Horner, I.B., *Women under Primitive Buddhism*, Delhi: Motilal Banarasidass, 1975.(originally published London, 1930).

Horner, I.B., *Women in Early Buddhist Literature*. Kandy: Buddhist Publication Society, 1982.

Hutton, J.H., *Caste in India: Its Nature, Function and Origins*, Cambridge, Cambridge University Press, 1946.

Hultzsch, E., "Contributions to Singhalese Chronology," *JRAS*,1913: 517-531.

Hultzsch, E., *Inscriptions of Aśoka*, Oxford: Clarendon Press, 1925.

Huxley, A., "The Kurudhamma: From Ethics to Statecraft," *Journal of Buddhist Ethics, Vol. 2,1995, 191-203.*

Indraji, B.L., "Antiquarian Remains at Sopārā and Padaṇa," *JBBRAS*, XV, 1881-82: 292-315.

Jackson, V.H., "Notes on Old Rājagṛiha," *ARASI* 1913-14.

Jacobi, H.(ed), "Introduction" to *Kalpasūtra of Bhadrabāhu*, Leipzig, 1879, 1-16.

Jacobi, H.(tr), *The Jaina Sūtras*, SBE, vols. XXII & XLV, Oxford, 1884-85.

Jacobi, H. (ed), *Sthavirāvalī-Carita or Pariśiṣṭaparvan, Being an Appendix of the Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacarita by Hemacandra*, Bibliotheca Indica, 96, Calcutta, 1883-1891; 2nd edition, Calcutta, 1932.

Jaini, P.S., "The Disappearance of Buddhism and the Survival

of Jainism: A Study in Contrast," in A.K. Narain (ed), *Studies in History of Buddhism*, Delhi: 1980: 81ff.

Jaini, P. S., "Indian Perspectives on the Spirituality of Animals," David J. Kalupahana & W.G. Weeraratne (eds), *Buddhist Philosophy and Culture: Essays in Honour of N.A. Jayawickrema*, Colombo: N.A. Jayawickrema Felicitation Volume Committee, 1987: 169-178.

Jatava, D.R., "Is Buddhism Pessimistic?," U. Thakur (ed), *Proceedings: The Fifth International Buddhist Conference*, vol. 5, Bodh Gaya, 1979, 131-133.

Jayatilleke, K.N., *Ethics in Buddhist Perspective*, Wheel Pub. No. 175/176, Kandy: Buddhist Publication Society, 1972.

Jayawickrama, N.A.(ed), *The Inception of Discipline and the Vinaya Nidāna,* London: Luzac and Co. Ltd, 1962.

Jones, K., *The Social face of Buddhism*, London: Wisdom Publications, 1989.

Jong, J.W. de, "The Background of Early Buddhism," *Buddhist Studies*, Berkeley, 1979: 29-42.

Jong, J.W. de, "The Beginnings of Buddhism," *The Eastern Buddhist*, New Series, 26, No. 2, Autumn 1993, 11-30.

Joshi, L.M., *Studies in the Buddhist Culture of India*, Delhi:

Motilal Banarsidass: 1967.

Joshi, M.C., "Observations on Chakrabarti's Paper," *Purātattva*, 6, 1972-73: 35.

Joshi, M.C., "Early Historical Urban Growth in India: Some Observations," *Purātattva*, 7, 1974: 90-91.

Kabilsingh, C., *A Comparative Study of Bhikkhunī Pātimokkha*, Varanasi: Chaukhambha Orientalia, 1984.

Kane, P.V., *History of Dharmaśāstra,* Vol.V, Part 2, Poona, 1930-62

Kapleau, R.Philip, *To Cherish All Life: A Buddhist View of Animal Slaughter and Meat Eating*, The Buddha Educational Foundation, 1981.

Kapleau, R. Philip, "Animals and Buddhism," *Zen Bow Newsletter: A Publication of the Zen Center*, Vol. V, No. 2, spring 1983: 1-9.

Karaimi, S.M., "Rājagṛha: The Magadhan Capital," *Journal of the Bihar Research Society,* LV, 1969: 69-89.

Keown, D., *The Nature of Buddhist Ethics*, London: Macmillan, 1992.

Keown, D., *Buddhism and Bioethics*, London: St Martin's Press, 1995.

Kern, H., *Manual of Indian Buddhism*, Strssburg: Grundriß

der indo-arischen Philologie und Altertumskunde, III, Band 8 Heft, 1896.

Kosambi, D.D., *The Culture and Civilization of Ancient India*: Bombay: Popular Prakashan, 1950.

Kosambi, D.D., "Ancient Kosala and Magadha," *JBBRAS*, XXVIII, 1952, 108-123.

Kosambi, D.D., *An Introduction to the Study of Indian History*, Bombay: Popular Prakashan, 1956.

Kosambi, D.D., "The Beginning of the Iron Age in India," *JESHO*, VI, Pt. III, 1963: 309-318.

Krishan, Y., "The Causes of the Decline of Buddhism and Its Disappearance from India: A Reassessment," *Visvesvaranand Indological Journal*, II, 1964: 93-113.

Krishan, Y., "Buddhism and the Caste System," *Journal of the International Association of Buddhist Studies*, 9 (1), 1986: 71-83.

Kuraishi, M.H., *Rājgīr*, rev. A. Ghosh, New Delhi: ASI, 1958.

Lal, B.B., "Are the Defences of Kausambi Really as old as 1025 BC?," *Purātattva*, 11, 1979-80: 88-95.

Lal, B.B., "The So-called Syenachiti at Kausambi: A Fallen Brick Mass," *Purātattva*, 15, 1986: 94ff.

Lal, B.B., "When Did Udayana Rule?," *Purātattva*, 15, 1986:

80ff.

Lal, M., *Settlement History and the Rise of Civilization in the Ganga-Yamuna Doab from 1500 BC to 300 AD*, Delhi: B.R. Publishers, 1984.

Lal, M., "Iron Tools, Forest Clearance and Urbanization in the Gangetic Plains," *Man and Environment*, X, 1986: 85ff.

Lamotte, Ė., *History of Indian Buddhism: From the Origins to the Śaka Era*, tr.Sara Webb-Boin, Louvain-la-Neuve: Insitut Orientaliste, 1988; originally published as *Histoire du bouddhisme indien: Des origenes à l'ère Śaka,* Louvain: Bibliothêque du Muséon, vol. 43, Louvain, 1958.

Lang, Karen, "Lord Death's Snare: Gender-related Imagery in the Theragāthā and the Therīgāthā," *Journal of Feminist Studies in Religion,* 2, 1986: 63-79.

Law, B.C., *A History of Pāli Literature*, 2 vols, London: Kegan Paul Trench, Trübner & Co. Ltd, 1933, reprint, Delhi: Indological Book House, 1983.

Law, B.C., *Rājagṛiha in Ancient Literature*, *MASI*, No. 58, 1938.

Law, B.C., *India as Described in Early Texts of Buddhism and Jainism*, Delhi, 1950.

Law, B.C., *Indological Studies*, Part I, Calcutta: The Indian Research Institute, 1950.

Law, B.C., *Buddhistic Studies*, reprint, Delhi: Indological Book House, 1983.

Law, B.C., *Historical Geography of Ancient India*, Paris: Société Asiatique de Paris, 1954.

Law, B.C., *Women in Buddhist Literature*, reprint, Varanasi & Delhi, 1981.

Lerner, Gerda, *The Creation of Patriarchy*, New York: Oxford University Press, 1986.

Lienhard, S., "A Brief Note on the Date of the Historical Buddha and Classical Poetry," Heinz Bechert (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha (Symposien zur Buddhismusforschung, IV, 1),* Gottingen, 1991, 194-196.

Ling, T.O., *The Buddha: Buddhist Civilization in India and Ceylon*, London: Temple Smith, 1976.

Lorna, Devaraja, "The Position of Women in Buddhism," *Sākyadhītā: International Association of Buddhist Women*. Vol. 4, No. 1. Summer 1993. Honolulu: Sakyadhita, 1993.

Macdonnell, A.& AB Keith, *Vedic Index of Names and Subjects*, 2 vols., London: Murray, 1912.

Mahapatra, C., *The Real Birthplace of Buddha*, Cuttack: Grantha Mandir, 1977.

Majumdar, R.C., “Identification of Some Old Cities in Rājagṛiha,” *JBBRAS*, XV (2), 1947: 65-80.

Malalasekera, G.P., *Dictionary of Pāli Proper Names*, 2 vols., London: PTS, 1937-3.

Mallik, M.S., “Decline of Buddhism in India,” *Triveni*, XXXIX, 1970: 109-112.

Marasinghe, M.M.J., *Gods in Early Buddhism*, Colombo, 1974.

Marshal, J.H., “Rājagṛiha and its Remains,” *ARASI* 1905-06: 86-106.

Marshall, J.H., “Excavations at Sravasti,” *ARASI*, 1910-11, 1-24.

McC Adams, R., “The Origins of Cities,” *Scientific American*, 203 (3), 1966, 153-172.

McDermott, James P., “Animals and Humans in Early Buddhism,” *Indo-Iranian Journal*, Vol. 32, No. 2, 1989: 269ff.

McQuaig, Linda, *The Wealthy Banker's Wife*, Penguin Books, 1993.

Meena, Talim, *Woman in Early Buddhist Literature*, Bombay: University of Bombay, 1972.

Mehta, R.L., *Pre-Buddhist India*, Bombay: Indian Historical Research Institute, 1939.

Meillassoux, C., "Historical Modalities of the Exploitation and Over-Exploitation of Labour," *Critique of Anthropology*, 1979, 4, Nos. 13 & 14: 7-17.

Mendis, G.C., "The Chronology of the Early Pāli Chronicle of Ceylon," *University of Ceylon Review*, 5, No.1, 1947: 39-54.

Mills, C.W., *The Power Elite*, New York: Oxford University Press, 1956.

Mishra, D., *Excavations at Tilaurakot and Explorations in Nepalese Terai*, Kathmandu: Department of Archaeology, 1972.

Mishra, G.S.P., *The Age of Vinaya*, New Delhi, 1972.

Mishra, G.S.P., *Development of Buddhist Ethics*, New Delhi, 1984.

Mitra, D., *Buddhist Monuments*, Calcutta: Sahitya Samsad, 1971.

Mitra, R.C., *The Decline of Buddhism in India*, Calcutta: Vishva Bharati Studies: 1954.

Monier-Williams, M., *Buddhism: In its Connecxion with Brāhmaṇism and Hinduism, and its Contrast with Christianity*, N. Delhi: 1995 (originally published in 1889).

Morgan, K.W., *The Path of the Buddha*, New York, 1956.

Morris, Ivan, *Madly Singing in the Mountains: An*

Appreciation and Anthology of Arthur Waley, New York: 1998.

Mukherjee, B.N., *The Genesis of Buddhism: Its Social Content*, vol. 1, Calcutta, 1976.

Mukherjee, P.C., *Antiquities of Kapilavastu*, No. XXVI, Pt. I, Calcutta, 1901, reprint, Delhi, 1969.

Mukherjee, P.C. & VA Smith, *A Report on a Tour of Exploration of Kapilavastu, Terai of Nepal, during February and March of 1899*, reprint, Varanasi: Indological Book House, 1969.

Müller, F. Max, "The True Date of Buddha's Death," *The Academy*, 1 March 1884, No. 617, 152-153.

Murcott, Susan, *The First Buddhist Women: Translations and Commentary on the Therīgāthā,"* Berkeley: Parallax Press, 1991.

Nakamura, H., "Ethical Values of Buddhism in Light of World Civilization," *Berkeley Bussei*, 1958, 15-20.

Nakamura, H., *Indian Buddhism: A Survey With Bibliographical Notes*, Tokyo, 1980; reprint, Delhi: Motilal Banarasidas, 1989.

Narasu, P.L., *The Essence of Buddhism*, Delhi, 1976.

Narain, A.K. & T.N. Roy, *Excavations at Rajghat, 1957-58, 1960-65*, 4 vols., Varanasi: Banaras Hindu University, 1976-78.

Narain, A.K. & P. Agrawal, *Excavations at Rajghat, 1957-58, 1960-65*, Varanasi: Banaras Hindu University, 1978.

Narain, A.K. (Ed), *Studies in History of Buddhism*, Delhi: B.R. Publishing Corporation, 1980.

Nash, M.(ed), *Anthropological Studies in Theravada Buddhism*, New Haven, 1966.

Nattier, Jan, *Once Upon a Future Time: Studies in a Buddhist Prophecy of Decline*, Berkeley: Asian Humanities Press, 1991.

Navarro, Vincente, "Social Class, Political Power and the State and Their Implications for Medicine," *Social Science and Medicine*, 10, 1976: 437-57.

Niyogi, P., "Organisation of Buddhist Monasteries in ancient Bengal and Bihar," *Journal of Indian History*, LI (3), 1973: 531-557.

Niyogi, P. "Endowments in Favour of Early Buddhist Monasteries in Bengal and Bihar," *Journal of Ancient Indian History*, Vol. VI, Parts 1-2, 1972-73, Calcutta, 1973: 160-165.

Nolot Edith (tr.), *Regles de Discipline des Nonnes Bouddhistes: Le Bhikṣuṇīvinaya de L'Ecole Mahāsaṃghika-Lokottaravādin*, Paris: College de France, 1991.

Norman, K.R., *A History of Indian Literature*, Vol VII, Fasc

2, Wiedbaden: Otto Harrassowitz, 1983.

Oldenberg, H., "Die Datierung der neuen angeblichen Asoka-Inschriften," *Zeitschrift der Deutschen Morgenlaändischen Gesellschaft*, 35, 1881: 472-476.

Oldenberg, H., *The Buddha: His Life, His Doctrines, His Order*, reprint, Delhi, 1971 (originally published 1927).

Pachow, W., "A Study of the Dotted Record," *JAOS*, vol. 83 (3), 1965: 344-45.

Pande, G.C., *Studies in the Origins of Buddhism*, Allahabad: University of Allahabad, 1957.

Pande, G.C., *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*, **लखनऊ, हिन्दी समिति**, 1963.

Pande, G.C., *Śramana Tradition: Its History and Contribution to Indian Culture*, Allahabad, 1978.

Pande, G.C., "On the Question of the Social Origins of Buddhism," Mahesh Tiwary (ed), *Bodhi-Raśmi*, New Delhi: Motilal Banarsidass, 1984.

Paranavitana, S., "New Light on the Buddhist Era in Ceylon and Early Sinhalese Chronology," *University of Ceylon Review*, 18,1960, 129-155.

Pardue, P.A., *Buddhism: A Historical Introduction to Buddhist Values and the Social and Political Forms They have Assumed in Asia*, New York: Macmillan,

1971.

Pargiter, F.E., *The Purāṇa Text of the Dynasties of the Kali Age with Introduction and Notes*, Oxford, 1913, facsimile of first edition, Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Studies, 1962.

Pargiter, F.E., "A Copper-Plate Discovered at Kasi, and Buddha's Death Place," *JRAS*, 1913, 151-153.

Pargiter, F.E., *Ancient Indian Historical Tradition*, London, 1922; rep. Delhi, 1962.

Paul, Diana Y., *Women in Buddhism: Images of the Feminine in the Mahāyāna Tradition*, Berkeley: Asian Humanities Press, 1979.

Pearson, H.W., "The Economy has no Surplus: A Critique of the Theory of Surplus," K. Polanyi *et al* (eds), *Trade and Market in the Early Empires*, Glencoe, Illinois: The Free Press, 1957: 320-341.

Perera, L.P.N., "Faculties of Sex and Related Phenomena in Buddhist Sexual Theory," David Kalupahana and W. G. Weeratne (eds), *Buddhist Philosophy and Culture: Essays in Honour of N. A. Jayawickrama*, Sri Lanka: N. A. Jayawickrema Felicitation Volume Committee, 1987, 179-188.

Pillai, L.D.S., "The True and Exact Day of Buddha's Death," *Indian Antiquary*, vol. 43, 1914, 197-204.

Pischel, R., "The Aśokan Inscriptions," *The Academy*, XII,

11 August 1977, 145.

Possehl, G.L., *Indian Archaeology: A Review Guide to Excavated Sites, 1953-82*, Philadelphia: University of Pennsylvania, 1985.

Possehl, G.L., *Radiocarbon Dates from South Asia*, data-list circulated by the author in September 1987.

Prasad, C.S., "Logic Behind Allowing Meat-Eating and Prohibiting it in Buddhism," *Transactions of the International of Orientalists*, Japan, XVI, 1971, 104f.

Preston, J., *Sacred Centres: Development of a Classificatory Scheme*, Bhuvaneshwar: India Book Centre, 1987.

Przyluski, J., *Le Légende de l'Empereur Aśoka (Aśoka-Avadāna) dans les textes indiens et chinois Aśoka, Paris*, 1923.

Przyluski, J., *Le Concile de Rājagṛiha*, Paris: Buddhica le sér.2, 1926.

Queen, Christopher S., "The Peace Wheel: Nonviolent Activism in the Buddhist Tradition," D.L. Smith-Christopher (ed) *Subverting Hatred: The Challenge of Nonviolence in Religious Traditions*, Boston: Boston Research Center for the 21st Century, 1998, 15-36.

Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy*, vol.1, London: Library of Philosophy, 1923.

Rai, J., *The Rural-Urban Economy and Social Changes in Ancient India*, Delhi, 1974.

Rao, M.R., "Burmese Records Corroborate the Puranic Date of Buddha's Death," D.R. Bhandarkar *et al* (eds), *B.C. Law Volume*, Part 1, Calcutta: Indian Research Institute, 1945: 392-399.

Rapson, E.J., *Cambridge History of India*, vol. 1, Cambridge: Cambridge University Press, 1922.

Ray, N.R., "Technology and Social Change," *Purātattva*, No. 8, 1978, 130-138.

Raychaudhuri, H.C., *Political History of Ancient India*, 6th revised and enlarged edition, Calcutta: University of Calcutta, 1953.

Rhys Davids, C.A.F., *Outlines of Buddhism: A Historical Sketch*, London: Methuen, 1934, 1st Indian print, Delhi, 1978.

Rhys Davids, T.W., "The New Aśoka Inscriptions," *The Academy*, XII, 14 July 1877: 37.

Rhys Davids,T.W., "Persecution of Buddhists in India," *Journal of the Pāli Text Society*, 1896: 87-92.

Rhys Davids, T.W., *Buddhist India*, New York: G.P. Putnam's Sons, 1903.

Rhys Davids, T.W., "The Early History of the Buddhists," E.J. Rapson (ed), *The Cambridge History of India*, vol. 1, Cambridge, 1922, 171-197.

Rhys Davids, T.W. , *The History and Literature of Buddhism*,

Varanasi, reprint,1975.

Rijal, B.K., "Excavation, Exploration and Other Archaeological Activities in Tilaurakot," *Ancient Nepal*, 1977, 11-31.

Rijal, B.K., *Archaeological Remains of Kapilavastu, Lumbini and Devadaha*, Kathmandu: Educational Enterprises (pvt) Ltd, 1979.

Robinson, R.H., *The Buddhist Religion: A Historical Introduction*, 2nd edition, California, 1976.

Roerich, G., *Biography of Dharmasvāmin: A Tibetan Monk Pilgrim*: 64-95.

Rossitor, C., *Marxism: The View From America*, New York, 1966.

Roy, B.P., *The Later Vedic Economy*, Patna, 1984.

Roy, Kumkum, *The Emergence of Monarchy in Northern India, Eighth to Fourth Century BC*, New Delhi: Oxford University Press, 1994.

Roy, T.N., *The Gaṅgā Civilization*, New Delhi: Ramananda Vidya Bhawan, 1983.

Ruegg, D.Seyford, "Ahiṃsā and Vegetarianism in the History of Buddhism," Samaratna *et al* (eds), *Buddhist Studies in Honour of Walpola Rahula*, London: Gordon Fraser, 1980.

Saddhatissa, H., *Buddhist Ethics: Essence of Buddhism*, New York: G. Braziller, 1970.

Sahni, D.R., "A Buddhist Image Inscription from Śrāvastī," *ARASI*, 1908-09, 133-138.

Sanghadevi, Dharmacharini, "The History of the Ordination of Women in Buddhism: Including an Overview of the Contemporary Situation," *Dakini*. Issue 7, Summer 1991. Glasgow, Scotland: Ink Print and Design, 1991.

Sangharakshita, B., *A Survey of Buddhism*, Sixth totally revised edition, London: Tharpa Publications, 1987.

Sankrityayan, R. *et al* (eds), *Buddhism: The Marxist Approach*, Reprint, New Delhi: People's Publishing House, 1978.

Sarao, K.T.S., "Liberty and Equality in Buddhism and Marxism," a paper presented at the *National Conference on Marxism and Buddhism*, Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi, 14 Feb.-17 Feb. 1985.

Sarao, K.T.S., "Meat-Eating and Non-Violence in Early Indian Buddhism," a paper presented at the *7th Conference of the International Association of Buddhist Studies*, Bologna, Italy, 8 August-10 August, 1985.

Sarao, K.T.S., "Early Buddhist Attitude Towards Women," a paper presented at the *32nd International Conference of Asian & North African Studies*, Hamburg

(Germany), 31 August - 6 September, 1986 and later published in the *Aligarh Journal of Oriental Studies*, Vol.III, Autumn 1986, 101-110.

Sarao, K.T.S., *Urban Centres and Urbanization as Reflected in the Pāli Vinaya and Sutta Piṭakas*, Delhi: Vidyanidhi, 1990.

Sarao, K.T.S., "Urban Centres Reflected in Early Buddhist Literature," a paper presented at the *8th Conference of the International Association of Buddhist Studies*, Berkeley, USA, 8 August-11 August 1987.

Sarao, K.T.S., "Who and What Originated Earliest Buddhism?," a paper presented at the *7th World Sanskrit Conference*, Leiden, Holland, 23 August- 29 August 1987 and later published as "Background to the Origin of Earliest Buddhism," *Indologica Taurinensia*, 15-16, 1989-90: 305-318.

Sarao, K.T.S., "Did the Buddha Really Belong to the Sixth-Fifth Century BC?," H.S. Prasad (ed.), *Philosophy, Grammar, and Indology: Essays in Honour of Professor Gustav Roth*, Delhi: Sri Satguru Publications: 303-317.

Sastri, N.K. (ed), *Age of the Nandas and Mauryas*; Delhi, 1967.

Sayer, Dorothy, *Are Women Human?,* Grand Rapids: Eerdmans, 1971.

Schmidt, Hanns-Peter, "The Origin of Ahiṃsā," *Mélanges*

d'Indianisme à la mémoire de Louis Renou, Paris: Publication de l'Insitut de Civilisation Indienne, 1968: 626ff.

Schmithausen, L., *Buddhism and Nature*, Tokyo: The International Institute for Buddhist Studies, 1991.

Schmithausen, L., "An Attempt to Estimate the Distance in Time between Aśoka and the Buddha in Terms of Doctrinal History," Heinz Bechert (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha (Symposien zur Buddhismusforschung, IV, 2),* Gottingen, 1992, 110-147.

Sen, D.N., "Sites in Rājgīr associated with Buddha and His Disciples," *Journal of the Bihar Research Society (Buddha Jayanti Special Issue)* 1956, 136-158.

Senart, Ē., *Caste in India*, London, 1950.

Sharma, A., "The Disapprearance of Buddhism from India as a Historical Canundrum," *Panjab University Research Bulletin*, VI, 1965: 61-74.

Sharma, Arvind (ed), *Women in World Religions*, Albany: State University of New York, 1987.

Sharma, C., *A Critical Survey of Indian Philosophy*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1983.

Sharma, G.R., *The Excavations at Kausambi, 1957-59*, Alllahabad: University of Allahabad, 1960.

Sharma, G.R., *History to Prehistory: Archaeology of the Gaṅgā Valley and the Vindhyas*, Allahabad: University of Allahabad, 1980.

Sharma, J.P., *Republics in Ancient India*, Leiden: E.J. Brill, 1968.

Sharma, R.S., *Śūdras in Ancient India*, 3rd revised edition, Delhi: Motilal Banarsidas, 1990.(Originally published in 1958).

Sharma, R.S., "Material Background of the Origin of Buddhism," M. Sen & M.B. Rao (eds), *Das Capital Centenary Volume: A Symposium*, Delhi: People's Publishing House, 1968: 58-66.

Sharma, R.S., "Material Milieu of the Birth of Buddhism," a paper read at the *29th Conference of the Orientalists*, Paris, 1974.

Sharma, R.S., "Iron and Urbanization in the Gaṅgā Plain," *IHR*, I, 1974: 98-103.

Sharma, R.S., *Perspectives in Social and Economic History of Early India*, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1983.

Sharma, R.S., *Material Culture and Social Formation in Ancient India*, first edition, New Delhi: Munshiram Manoharlal, 1983, paperback reprint, Madras: Macmillan, 1992.

Sharma, Y.D., "Remains of Early Historical Cities,"

Archaeological Remains, Monuments and Museums, Part I, New Delhi: Archaeological Survey of India, 1964: 43-84.

Singh, C.S., "Meat-Eating and the Rule of *Tikoṭiparisuddha*," A.K. Narain (ed), *Studies in Pāli and Buddhism*, Delhi, 1979: 289-295.

Sinha, B.P. & S.R. Roy, *Vaishali Excavation, 1958-62*, Patna: The Directorate of Archaeology and Museums, Bihar, 1969.

Sinha, B.P., "The Excavations at Champa," B.P. Sinha (ed), *The Archaeology and Art of India*, Delhi: Sundeep Prakashan, 1979: 87-106.

Sinha, K.K., *Excavations at Śrāvastī, 1959*, 2,Varanasi: Monograph of the Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology, BHU, 1967.

Sircar, D.C. (ed), *Select Inscriptions Bearing on Indian History and Civilization*, I, 1st edition, 1942, 2nd edition, Calcutta: University of Calcutta, 1985.

Sirkar, D.C., *Studies in the Geography of Ancient and Medieval India*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1960.

Smith, Brian K., "Eaters, Food, and Social Hierarchy in Ancient India: A Dietary Guide to a Revolution of Values," *Journal of the American Academy of Religion*, 1990, Vol. LVIII, No. 2: 177-205.

Smith, R.M., *Date and Dynasties in Earliest India*, Delhi:

Motilal Banarsidas, 1973.

Smith, V.A., "The Birthplace of Gautama Buddha," *JRAS*, 1897: 615-621.

Smith, V.A., "The Remains Near Kasia in the Gorakhpur District," *JRAS*, 1897: 919-921.

Smith, V.A., "The Piprahwā Stūpa: Note," *JRAS*, 1898: 579-588, 868-870.

Smith, V.A., *Aśoka: The Buddhist Emperor of India*, Oxford: Clarendon Press, 1901.

Smith, V.A., "Kusinārā or Kuśinagara and Other Buddhist Places," *JRAS*, 1902, 139-63, 430-431

Smith, V.A., "Vaiśālī," *JRAS*, 1902: 267-288.

.

Smith, V.A., *Early History of India*, 4th edition revised by S.M. Edwards, Oxford: Clarendon Press: nd.

Smith-Christopher, D.L.(ed), *Subverting Hatred: The Challenge of Nonviolence in Religious Traditions*, Boston: Boston Research Center for the 21st Century, 1998.

Spiro, M.E., *Buddhism and Society*, New York: Harper and Row, 1970.

Sponberg, A., "Attitudes toward Women and the Feminine in Early Buddhism," J. Cabezon (ed), *Buddhism, Sexuality, and Gender*, Albany: State University of

New York, 1992: 3-36.

Spooner, D.B., "Exploration and Research," *ARASI*, 1922-23: 87-91.

Srivastava, K.M., *Discovery of Kapilavastu,* New Delhi: Books & Books, 1986.

Srivastava, K.M., *Buddhist Relics from Kapilavastu*, Delhi: Agam Kala Prakashan, 1986.

Stein, O., "The Coronation of Candragupta Maurya," *Archiv Orientalni*, 1, 1929: 354-371.

Tachibana, S., *The Ethics of Buddhism*, New York, 1975.

Tähtinen, Unto, *Ahiṃsā: Nonviolence in Indian Tradition*, London: Ryder and Company: 1976.

Takakusu, J., "Pāli Elements in Chinese Buddhism: A Translation of Buddhaghosa's *Samantapāsādikā*, a Commentary on the *Vinaya,* Found in the Chinese *Tripiṭaka*," *JRAS* 1896: 415-439.

Thapar, R., *Aśoka and the Decline of the Mauryas*, Oxford, 1961.

Thapar, R., "The Purāṇic Lineage and Archaeological Data," *Purātattva*, 8, 1978: 86-98.

Thapar, R., *Ancient Indian Social History: Some Interpretations*, New Delhi: Sangam Publishers, 1978.

Thapar, R., *From Lineage to State*, Bombay: Oxford University Press, 1984.

Thapar, R. (ed), *Recent Perspectives of Early Indian History*, revised 2nd edition, Bombay: Popular Prakashan, 1998. (Originally published 1995).

Thomas, D.H., "The Awful Truth about Statistics in Archaeology," *American Antiquity*, 43, 1978: 231-244.

Thomas, E.J., *Life of the Buddha as Legend and History*, London, 1927, 1949.

Thomas, E.J., "Theravādin and Sarvāstivādin dates of the Nirvāṇa," D.R. Bhandarkar *et al* (ed), *B.C. Law Volume,* vol. 2, Poona, 1946, 18-22.

Thomas, E.J., "Buddha's Last Meal," *Indian Culture*, Calcutta, XV, 1948, 1-3.

Tiwary, M., "Socio-economic ideas reflected in early Buddhist Scriptures," paper presented at the *First International Conference on Buddhism and National Cultures*, New Delhi, 10-15 October, 1984.

Upreti, G.B., *The Early Buddhist World Outlook in Historical Perspective*, New Delhi: Manohar, 1997.

Venkataramayya, M., *Śrāvastī,* Delhi, 1956.

Varma, V.P., *Early Buddhism and its Origins*, Delhi, 1973.

Vogel, J. Ph., "Excavations at Saheth-Maheth," *ARASI*, 1907-08: 81-131.

Vogel, J. Ph., "The Site of Śrāvastī," *JRAS*, 1908: 971ff.

Wagle, N., *Society at the Time of the Buddha*, Bombay: Popular Prakashan, 1966.

Waley, A., "Did the Buddha die of Eating Pork?" *Mélanges chinois et bouddhiques*, Bruxelles, I, 1932: 343-354.

Walli, Koshelya, *The Conception of Ahiṃsā in Indian Thought According to Sanskrit Sources*, Varanasi: Bharata Manisha, 1974.

Walters, Jonathan, "A Voice from the Silence: the Buddha's Mother's Story," *History of Religions* 33/4, 1994: 358-379.

Warder, A.K., "On the Relationship between Buddhism and other Contemporary Systems," *BSOAS*, xviii, 1956.

Warder, A.K., *Indian Buddhism*, Delhi: Motilal Banarsidass, 1970.

Warder, A.K., *An Introduction to Indian Historiography*, Bombay, 1972.

Wayman, A., "Observations on the History and Influence of the Buddhist Tantra in India and Tibet," in A.K. Narain (ed), *Studies in History of Buddhism*, Delhi: 1980: 360ff.

Westergaard, J.H., "Sociology: The Myth of Classlessness" in R. Blackburn (ed), *Ideology in Social Science*, New York: Fontana, 1972: 119-163.

Wheeler, Kate , "Bowing Not Scraping," Helen Tworkov (ed), *Tricycle*, New Jersey: Mark Printing Corp., 1993.

Wickremasinghe, D.M.Z., "Kiribat-Vehera Pillar Inscription," *Epigraphia Zeylanica*, I, 1904-12, 153-161.

Wijayaratna, M., *Les Moniales Bouddhistes: Naissance et Developpement du Monachisme Feminin,* Paris: Ed. du Cerf, 1991.

Wijayaratna, M., *Buddhist Monastic Life: According to the Texts of the Theravāda Tradition*, tr. C. Grangier & S Collins, Cambridge: Cambridge University Press, 1990.

Weber, M., *The Religion of India*, ed & tr H.H. Garth & D. Martindale, Glencoe & Illinois: The Free Press, 1958.

Wheeler, Kate, "Bowing Not Scraping," Helen Tworkov (ed), *Tricycle*, New Jersey: Mark Printing Corp.: 1993.

Willis, Janice D., "Nuns and Benefactresses: The Role of Women in the Development of Buddhism," Y. Haddad & E. Findly (eds), *Women, Religion, and Social Change*, Albany: State University of New York Press, 1985: 59-85.

Wilson, Liz, *Women in the Footsteps of the Buddha: Struggle for Liberation in the Therīgāthā*, Curzon, 1998.

Wilson, H.H., *Indian Caste,* London, Luzac & Co, 1877.

Winternitz, M., *A History of Indian Literature*, tr. S. Ketkar & H. Kuhn, 2 vols, Calcutta: University of Calcutta, 1933; reprint, Delhi: Motilal Banarsidass, 1990.

Yamazali, G., "The Spread of Buddhism in the Mauryan Age, With Special Reference to the Milinda Legend," *Acta Asiatica*, 4, 1982 , 1-16.

Yamazaki, G., "The List of the Patriarchs in the Northern and Southern Legends," Heinz Bechert (ed), *The Dating of the Historical Buddha/ Die Datierung des historischen Buddha (Symposien zur Buddhismusforschung, IV, 1),* Gottingen, 1991: 313-325.

Young, Katherine K., "Introduction," Arvind Sharma (ed), *Women in World Religions*, 1987:16ff.

Yuichi,Kaiyama, "Women in Buddhism," *Eastern Buddhist,* NS, 15, 1982: 53-70.

Zimmermann, Francis, *The Jungle and the Aroma of Meats: An Ecological Theme in Hindu Medicine*, Berkeley: University of California Press, 1987.

Zoysa, G.H. de, *Original Buddhism*, Anuradhapura, 1989.

Zwilling, Leonard, "Homosexuality as Seen in Indian Buddhist Texts," Jose Cabezon (ed), *Buddhism,*

Sexuality and Gender, New York: State University of New Press, 1992: 203-214.